* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण

मूल्य ६ रुपये

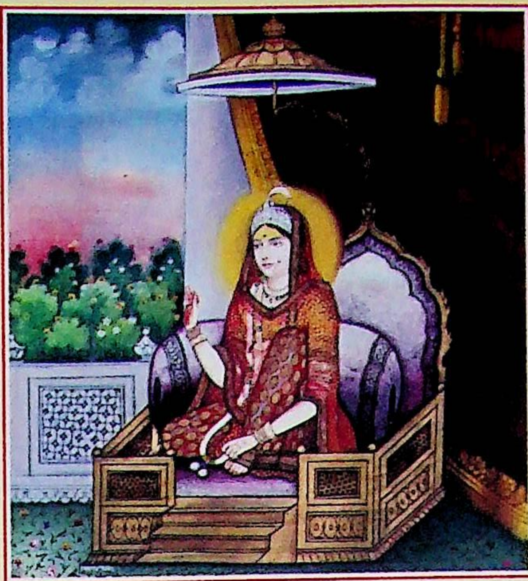


वर्ष ८३

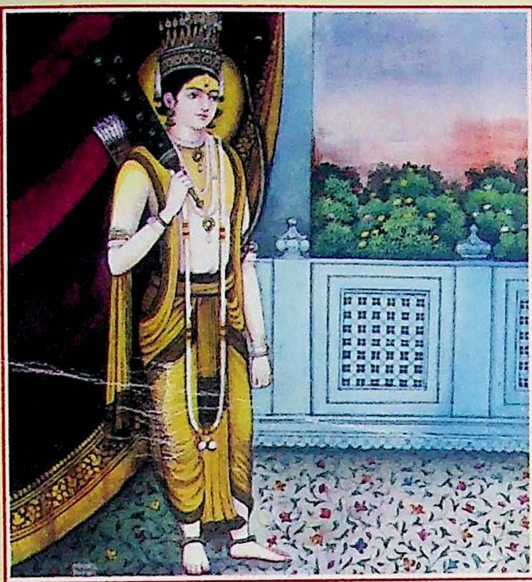
संख्या २

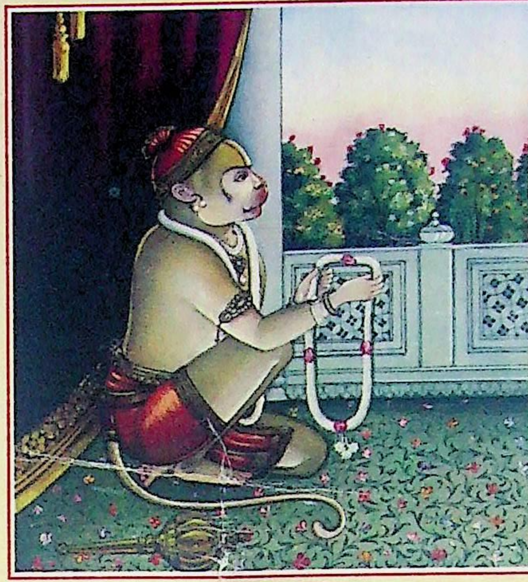
गीताप्रेस, गोरखपुर

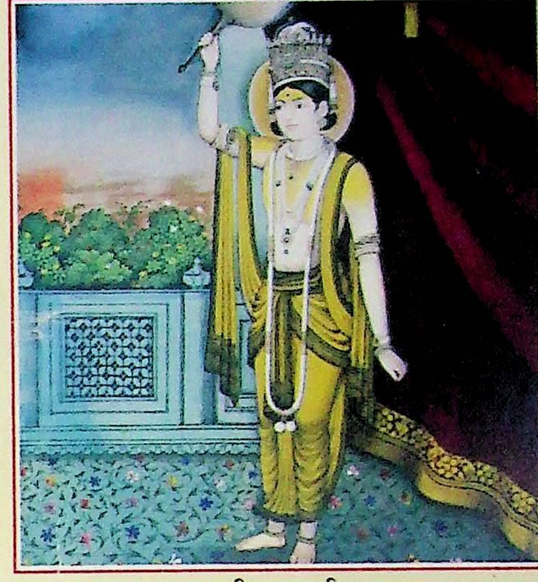

श्रीरामचन्द्रजी


श्रीसीताजी

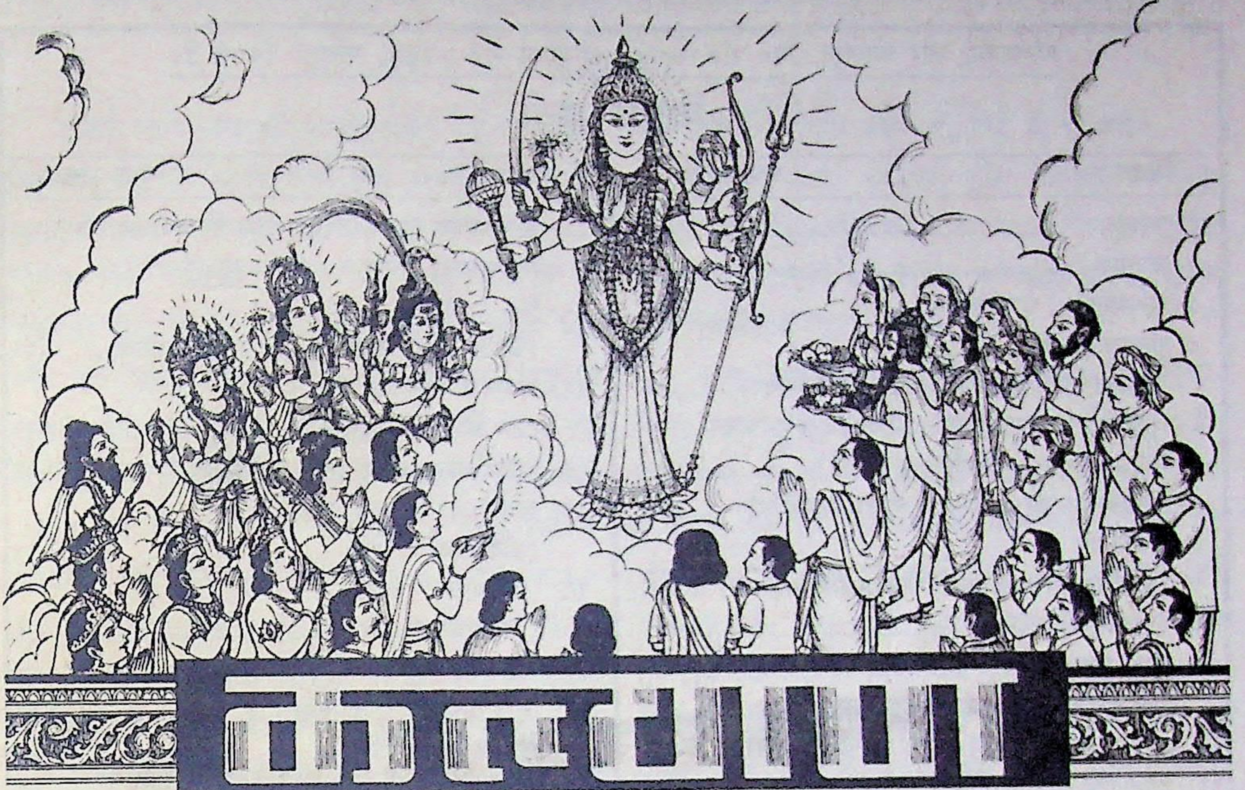

श्रीभरतजी


श्रीलक्ष्मणजी


श्रीहनुमानजी


श्रीशत्रुघ्नजी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥



नमो देव्यै जगद्धात्र्यै शिवायै सततं नमः । दुर्गायै भगवत्यै ते कामदायै नमो नमः॥
नमः शिवायै शान्त्यै ते विद्यायै मोक्षदे नमः । विश्वव्याप्त्यै जगन्मातर्जगद्धात्र्यै नमः शिवे॥

वर्ष ८३ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०६५, श्रीकृष्ण-सं० ५२३४, फरवरी २००९ ई० | संख्या २

पूर्ण संख्या ९८७

वन्दना

卐 प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥ 卐
卐 राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥ 卐
卐 बंदउँ लछिमन पद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता॥ 卐
卐 रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका॥ 卐
卐 सेष सहस्त्रसीस जग कारन। जो अवतरेउ भूमि भय टारन॥ 卐
卐 सदा सो सानुकूल रह मो पर। कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर॥ 卐
卐 रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥ 卐
卐 महाबीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जस आप बखाना॥ 卐
卐 × × × × × 卐
卐 जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥ 卐
卐 ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥ 卐
卐 पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदउँ सब लायक॥ 卐
卐 राजिवनयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥ 卐
卐 [श्रीरामचरितमानस] 卐

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण २,२५,०००)

कल्याण, सौर फाल्गुन, वि० सं० २०६५, श्रीकृष्ण-सं० ५२३४, फरवरी २००९ ई०

विषय-सूची



चित्र-सूची



वार्षिक शुल्क
अजिल्द १५० रु०
सजिल्द १७० रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Rs.1250) (Sea Mail)
US$40 (Rs.2000) (Air Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

विदेशके लिये पञ्चवर्षीय ग्राहक नहीं बनाये जाते।

पञ्चवर्षीय शुल्क
भारतमें
अजिल्द ७५० रु०
सजिल्द ८५० रु०

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका, सहसम्पादक—डॉ० प्रेमप्रकाश लक्कड़
केशोराम अग्रवालद्वारा गोबिन्दभवन-कार्यालय के लिये गीताप्रेस, गोरखपुर से मुद्रित तथा प्रकाशित

website : www.gitapress.org | e-mail : Kalyan@gitapress.org | © (0551) 2334721

सदस्यता-शुल्क—व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पो० गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर को भेजें।

कल्याण

याद रखो—चित्तकी धाराका प्रवाह एक भगवान्‌की ओर ही रहे, इस बातके लिये सदा यत्नशील बने रहो, जगत्‌की ओर कहीं मुड़े तो वह भी भगवान्‌की ओर जानेके सीधे रास्तेकी खोजमें ही। कहीं जरा-सी भी गड़बड़ी दीखे तो तुरंत प्रवाहको उस ओरसे वापस मोड़ लो। धन, जन, परिवार, शरीर, यश, सम्मान—कुछ भी तुम्हारे साथ नहीं जायँगे, परलोकमें ये तुम्हारे काम नहीं आयँगे, तुम्हें विपत्तिसे नहीं बचायेंगे। अतएव इनके लिये जीवन मत गँवाओ। यदि भाग्यवश ये मिल गये तो सावधान रहो, कहीं तुमपर इनका नशा न चढ़ जाय—तुम कहीं भगवान्‌के मार्गसे हट न जाओ; इनसे चिपटो मत, मनको सदा इनसे अलग रखनेकी चेष्टा करो और हो सके तो इनका भी भगवत्प्रीतिमें ही उपयोग करो।

पता नहीं शरीरका अन्त कब हो जाय, अतएव सदा तैयार रहो। जिसका आचरण शुद्ध है, जिसमें सद्‌गुणोंका विकास है, जिसका मन घरमें, परिवारमें, भोगोंमें नहीं अटकता, जो मनसे भगवान्‌को नहीं भूलता और जो शरीरसे अपनेको सदा अलग, चेतन, नित्य और अविनाशी समझता है, बस वही तैयार है। उसे मृत्युके समय रोना नहीं पड़ता है।

याद रखो—जबतक शरीर स्वस्थ है, भोग भोगनेकी शक्ति है, भोगोंमें मन लगा है, मृत्यु सामने दिखायी नहीं देती, तबतक अवश्य ही बहुतोंको लिखी बातें अनावश्यक और कड़वी लग सकती हैं; परंतु एक दिन सभीको इन बातोंपर विचार करना पड़ता है और उस समय पहलेकी भूलका पछतावा बहुत ही भयानक होता है। पहलेसे ही विचार करके चेत जाओ तो अच्छी बात है।

धन, यौवन, रूप, पद, सम्मान, शक्ति, विद्या, वाग्मिता—ये सब-के-सब मौतका विकराल मुँह देखते ही विध्वस्त हो जायँगे। इनसे कुछ भी नहीं होगा। अतएव इनकी प्राप्तिको जीवनका उद्देश्य मत बनाओ और प्राप्त होनेपर तनिक भी अभिमान मत करो। यह चार दिनोंकी चाँदनी जरूर ही नष्ट हो जायगी।

शास्त्र, सन्त, महात्मा और भक्तोंकी वाणीका अनुशीलन और अनुसरणकर भगवान्‌पर विश्वास करो; भगवान्‌के महत्त्वको समझो और भगवान्‌के प्रेमको पानेके लिये भगवान्‌की शरण हो जाओ।

याद रखो—काम, क्रोध, लोभ, द्वेष, हिंसा, मत्सर, अभिमान, ममत्व आदि दोष बड़े ही प्रबल हैं। इन सबका समूल नाश करनेका प्रयत्न करो। सत्संग या साधनाके प्रभावसे कभी-कभी मनुष्यको अपनेमें इन दोषोंका अभाव-सा दीखता है और वह अपनेको पूर्ण मान लेता है; परंतु इनका सर्वथा नष्ट हो जाना कठिन है। दोष दब जाते हैं; परंतु संस्काररूपसे मनमें छिपे रहते हैं, जो अनुकूल परिस्थिति और उत्तेजक कारण उपस्थित होनेपर जाग उठते हैं। यही कारण है कि सर्वथा निर्दोष समझे जानेवाले पुरुषमें भी कभी-कभी इन दोषोंका प्रकाश देखा जाता है।

अतएव अभिमानसे अपनेको बचाते हुए बड़ी ही सावधानीसे भगवान्‌के बलका आश्रय लेकर इन दोषोंको समूल नष्ट करनेकी चेष्टा करो। काम, क्रोधादिके जाग्रत् होनेका सबल कारण उपस्थित होनेपर भी जब इनका जागरण न हो, तब समझना चाहिये कि इनका नाश हो रहा है। ये संस्काररूपसे भी न रह जायँ, इसके लिये बार-बार आत्मपरीक्षा करके देखना चाहिये।

याद रखो—अपने द्वारा कोई अच्छा काम बन जाय तो उसके लिये भूलकर भी अभिमान मत करो। सफलताके लिये भगवान्‌के कृतज्ञ होओ और उन्हींकी शक्तिको सफलतामें कारण समझो। सफलताका अभिमान बहुत बाधक है। अभिमान उत्पन्न होते ही सफलता दूर भागने लगती है और कहीं किसी कारणवश ऐसा होनेमें देर होती है तो उसका परिणाम अभिमानकी अत्यन्त वृद्धि हो जानेके कारण और भी भयानक होता है। **'शिव'**

सन्ध्यास्तुतिः [सन्ध्यास्तोत्रम्]

[शास्त्रोंमें सन्ध्योपासनाको नित्य अवश्यकरणीय कृत्योंमें परिगणित किया गया है। तीनों कालोंमें की जानेवाली सन्ध्योपासनामें गायत्रीमन्त्रका जप ही मुख्य है। श्रीमद्देवीभागवतमहापुराण गायत्री-उपासनाका महनीय ग्रन्थ है, इसमें आद्योपान्त प्रायः शक्तिकी उपासना ही सर्वत्र गुम्फित है तथापि उसके एकादशस्कन्ध तथा द्वादशस्कन्धमें गायत्री-उपासनाका विशेष माहात्म्य प्रतिपादित है, जो गायत्रीकल्प कहलाता है, उसी गायत्रीकल्पके अन्तर्गत सन्ध्यास्तुतिके नामसे एक स्तोत्र प्राप्त होता है, जिसमें देवी गायत्रीकी महिमा तथा उनकी कृपाशक्तिका निरूपण हुआ है। विशेष महत्त्वका होने तथा नित्य पाठकी दृष्टिसे इसे यहाँ सानुवाद दिया जा रहा है—सम्पादक]

श्रीनारायण उवाच

आदिशक्ते जगन्मातर्भक्तानुग्रहकारिणि। सर्वत्र व्यापिकेऽनन्ते श्रीसन्ध्ये ते नमोऽस्तु ते॥
त्वमेव सन्ध्या गायत्री सावित्री च सरस्वती। ब्राह्मी च वैष्णवी रौद्री रक्ता श्वेता सितेतरा॥
प्रातर्बाला च मध्याह्ने यौवनस्था भवेत्पुनः। वृद्धा सायं भगवती चिन्त्यते मुनिभिः सदा॥
हंसस्था गरुडारूढा तथा वृषभवाहिनी। ऋग्वेदाध्यायिनी भूमौ दृश्यते या तपस्विभिः॥
यजुर्वेदं पठन्ती च अन्तरिक्षे विराजते। सा सामगापि सर्वेषु भ्राम्यमाणा तथा भुवि॥
रुद्रलोकं गता त्वं हि विष्णुलोकनिवासिनी। त्वमेव ब्रह्मणो लोकेऽमर्त्यानुग्रहकारिणी॥
सप्तर्षिप्रीतिजननी माया बहुवरप्रदा। शिवयोः करनेत्रोत्था ह्यश्रुस्वेदसमुद्भवा॥
आनन्दजननी दुर्गा दशधा परिपठ्यते। वरेण्या वरदा चैव वरिष्ठा वरवर्णिनी॥
गरिष्ठा च वरार्हा च वरारोहा च सप्तमी। नीलगङ्गा तथा सन्ध्या सर्वदा भोगमोक्षदा॥
भागीरथी मर्त्यलोके पाताले भोगवत्यपि। त्रिलोकवाहिनी देवी स्थानत्रयनिवासिनी॥
भूर्लोकस्था त्वमेवासि धरित्री लोकधारिणी। भुवो लोके वायुशक्तिः स्वर्लोके तेजसां निधिः॥
महर्लोके महासिद्धिर्जनलोके जनेत्यपि। तपस्विनी तपोलोके सत्यलोके तु सत्यवाक्॥
कमला विष्णुलोके च गायत्री ब्रह्मलोकदा। रुद्रलोके स्थिता गौरी हरार्धाङ्गनिवासिनी॥

श्रीनारायण बोले—हे आदिशक्ते! हे जगन्मातः! हे भक्तोंपर कृपा करनेवाली! हे सर्वत्र व्याप्त रहनेवाली! हे अनन्ते! हे श्रीसन्ध्ये! आपको नमस्कार है। आप ही सन्ध्या, गायत्री, सावित्री, सरस्वती, ब्राह्मी, वैष्णवी तथा रौद्री हैं। आप रक्त, श्वेत तथा कृष्ण वर्णोवाली हैं। आप प्रात:कालमें बाल्यावस्थावाली, मध्याह्नकालमें युवावस्थासे युक्त तथा सायंकालमें वृद्धावस्थासे सम्पन्न हो जाती हैं। मुनिगण इन रूपोंमें आप भगवतीका सदा चिन्तन करते रहते हैं। आप प्रात:काल हंसपर, मध्याह्नकालमें गरुडपर तथा सायंकालमें वृषभपर विराजमान रहती हैं। आप ऋग्वेदका पाठ करती हुई भूमण्डलपर तपस्वियोंको दृष्टिगोचर होती हैं। आप यजुर्वेदका पाठ करती हुई अन्तरिक्षमें विराजमान रहती हैं। वही आप सामगान करती हुई भूमण्डलपर सर्वत्र भ्रमण करती रहती हैं। विष्णुलोकमें निवास करनेवाली आप रुद्रलोकमें भी गमन करती हैं। देवताओंपर अनुग्रह करनेवाली आप ब्रह्मलोकमें भी विराजमान रहती हैं। माया-स्वरूपिणी आप सप्तर्षियोंको प्रसन्न करनेवाली तथा अनेक प्रकारके वर प्रदान करनेवाली हैं। आप शिव-शक्तिके हाथ, नेत्र, अश्रु तथा स्वेदसे दस प्रकारकी दुर्गाके रूपमें प्रादुर्भूत हुई हैं। आप आनन्दकी जननी हैं। वरेण्या, वरदा, वरिष्ठा, वरवर्णिनी, गरिष्ठा, वरार्हा, सातवीं वरारोहा, नीलगंगा, सन्ध्या और भोगमोक्षदा—आपके ये दस नाम हैं। आप मृत्युलोकमें भागीरथी, पातालमें भोगवती और स्वर्गमें त्रिलोकवाहिनी (मन्दाकिनी)-देवीके रूपमें तीनों लोकोंमें निवास करती हैं। लोकको धारण करनेवाली आप ही धरित्रीरूपसे भूलोकमें निवास करती हैं। आप भुवर्लोकमें वायुशक्ति, स्वर्लोकमें तेजोनिधि, महर्लोकमें महासिद्धि, जनलोकमें जना, तपोलोकमें तपस्विनी, सत्यलोकमें सत्यवाक्, विष्णुलोकमें कमला, ब्रह्मलोकमें गायत्री और रुद्रलोकमें शंकरके अर्धांगमें निवास करनेवाली गौरीके

अहमो महतश्चैव प्रकृतिस्त्वं हि गीयसे। साम्यावस्थात्मिका त्वं हि शबलब्रह्मरूपिणी॥
ततः परा परा शक्तिः परमा त्वं हि गीयसे। इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिस्त्रिशक्तिदा॥
गङ्गा च यमुना चैव विपाशा च सरस्वती। सरयूर्देविका सिन्धुर्नर्मदैरावती तथा॥
गोदावरी शतद्रूश्च कावेरी देवलोकगा। कौशिकी चन्द्रभागा च वितस्ता च सरस्वती॥
गण्डकी तापिनी तोया गोमती वेत्रवत्यपि। इडा च पिङ्गला चैव सुषम्णा च तृतीयका॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषापूषा तथैव च। अलम्बुषा कुहूश्चैव शङ्खिनी प्राणवाहिनी॥
नाडी च त्वं शरीरस्था गीयसे प्राक्तनैर्बुधैः। हृत्पद्मस्था प्राणशक्तिः कण्ठस्था स्वप्ननायिका॥
तालुस्था त्वं सदाधारा बिन्दुस्था बिन्दुमालिनी। मूले तु कुण्डलीशक्तिर्व्यापिनी केशमूलगा॥
शिखामध्यासना त्वं हि शिखाग्रे तु मनोन्मनी। किमन्यद् बहुनोक्तेन यत्किञ्चिज्जगतीत्रये॥
तत्सर्वं त्वं महादेवि श्रिये सन्ध्ये नमोऽस्तु ते। इतीदं कीर्तितं स्तोत्रं सन्ध्यायां बहुपुण्यदम्॥
महापापप्रशमनं महासिद्धिविधायकम्। य इदं कीर्तयेत्स्तोत्रं सन्ध्याकाले समाहितः॥
अपुत्रः प्राप्नुयात्पुत्रं धनार्थी धनमाप्नुयात्। सर्वतीर्थतपोदानयज्ञयोगफलं लभेत्॥
भोगान्भुक्त्वा चिरं कालमन्ते मोक्षमवाप्नुयात्। तपस्विभिः कृतं स्तोत्रं स्नानकाले तु यः पठेत्॥
यत्र कुत्र जले मग्नः सन्ध्यामज्जनजं फलम्। लभते नात्र सन्देहः सत्यं सत्यं च नारद॥
शृणुयाद्योऽपि तद्भक्त्या स तु पापात्प्रमुच्यते। पीयूषसदृशं वाक्यं सन्ध्योक्तं नारदेरितम्॥

रूपमें स्थित हैं। अहंकार और महत् तत्त्वोंकी प्रकृतिके रूपमें आप ही कही जाती हैं। नित्य साम्य अवस्थामें विराजमान आप शबल ब्रह्मस्वरूपिणी हैं। आप उससे भी बड़ी 'पराशक्ति' तथा 'परमा' कही गयी हैं। आप इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिके रूपमें विद्यमान हैं और इन तीनों शक्तियोंको प्रदान करनेवाली हैं। आप गंगा, यमुना, विपाशा, सरस्वती, सरयू, देविका, सिन्धु, नर्मदा, इरावती, गोदावरी, शतद्रु, देवलोकमें गमन करनेवाली कावेरी, कौशिकी, चन्द्रभागा, वितस्ता, सरस्वती, गण्डकी, तापिनी, तोया, गोमती तथा वेत्रवती नदियोंके रूपमें विराजमान हैं और इडा, पिंगला, तीसरी सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अपूषा, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी—इन प्राणवाहिनी नाड़ियोंके रूपमें आपको ही प्राचीन विद्वानोंने शरीरमें स्थित बताया है। आप हृदयकमलमें प्राणशक्तिके रूपमें, कण्ठदेशमें स्वप्ननायिकाके रूपमें, तालुओंमें सर्वाधारस्वरूपिणीके रूपमें और भ्रूमध्यमें बिन्दुमालिनीके रूपमें विराजमान रहती हैं। आप मूलाधारमें कुण्डलीशक्तिके रूपमें तथा चूडामूलपर्यन्त व्यापिनीशक्तिके रूपमें स्थित हैं। शिखाके मध्यभागमें परमात्मशक्तिके रूपमें तथा शिखाके अग्रभागमें मनोन्मनीशक्तिके रूपमें आप ही विराजमान रहती हैं। हे महादेवि! अधिक कहनेसे क्या लाभ? तीनों लोकोंमें जो कुछ भी है, वह सब आप ही हैं। हे सन्ध्ये! मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिके लिये आपको नमस्कार है।

[हे नारद!] सन्ध्याके समय पढ़ा गया यह स्तोत्र अत्यधिक पुण्य प्रदान करनेवाला, महान् पापोंका नाश करनेवाला तथा महान् सिद्धियोंकी प्राप्ति करानेवाला है। जो व्यक्ति एकाग्रचित्त होकर सन्ध्याकालमें इस गायत्रीस्तोत्रका पाठ करता है, वह यदि पुत्रहीन है तो पुत्र और यदि धनका अभिलाषी है तो धन प्राप्त कर लेता है। ऐसा करनेवालेको समस्त तीर्थ, तप, दान, यज्ञ तथा योगका फल प्राप्त हो जाता है और दीर्घ कालतक सुखोंका उपभोग करके अन्तमें वह मोक्षको प्राप्त होता है। हे नारद! जो पुरुष स्नानकालमें तपस्वियोंद्वारा किये गये इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह जहाँ कहीं भी जलमें स्नान करे, उसे सन्ध्यारूपी मज्जनसे होनेवाला फल प्राप्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है; मेरा यह कथन सत्य है, सत्य है। हे नारद! सन्ध्याको उद्देश्य करके कहे गये इस अमृततुल्य स्तोत्रको जो भी व्यक्ति भक्तिपूर्वक सुनता है, वह पापसे मुक्त हो जाता है। **[श्रीमद्देवीभागवत, स्कन्ध १२]**

समताका महत्त्व

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

साधककी उच्चस्थितिके लिये समभाव परम आवश्यक है। राग-द्वेषका सर्वथा अभाव होनेपर ही समत्वभाव प्राप्त हो सकता है। इसलिये भगवान्ने गीतामें स्पष्ट कहा है कि साधकको राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये। ये दोनों इसके परिपन्थी अर्थात् साधनके विरोधी हैं (गीता ३। ३४)। इनसे रहित होकर कर्तव्यका पालन करनेवाला मनुष्य नि:सन्देह परमात्माको प्राप्त हो जाता है (गीता २। ६४-६५)। अत: साधकको चाहिये कि राग-द्वेषका सर्वथा त्याग करके अपने हृदयमें समभावकी स्थापना करे। समता ही वास्तवमें योग है (गीता २। ४८)। गीताके छठे अध्यायमें भगवान्ने ध्यानयोगका वर्णन आरम्भ करनेके पहले इस समभावका महत्त्व इस प्रकार वर्णन किया है—

जितात्मन: प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित:।
शीतोष्णसुखदु:खेषु तथा मानापमानयो:॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रिय:।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चन:॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

'सरदी-गरमी और सुख-दु:खादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्त:करणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित है अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्त:करण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्-प्राप्त है, ऐसा कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समानभाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है।'

इसके सिवा गीता (१२। १८-१९)-में भगवान्ने अपने प्रिय भक्तका लक्षण करते हुए भी स्पष्ट कहा है—

सम: शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो:।
शीतोष्णसुखदु:खेषु सम: सङ्गविवर्जित:॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर:॥

'जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दु:खादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है, जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि पुरुष मुझको प्रिय है।'

इस प्रकरणमें हर्ष, शोक, द्वेष, चिन्ता और कामनाका अभाव दिखाकर भी राग-द्वेषके अभावका और समताका ही महत्त्व प्रकट किया गया है तथा गीता (१४। २४-२५)-में गुणातीत भगवत्प्राप्त पुरुषका लक्षण करते हुए भी स्पष्ट कहा है—

समदु:खसुख: स्वस्थ: समलोष्टाश्मकाञ्चन:।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति:।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो:।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत: स उच्यते॥

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दु:ख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है। जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

अत: साधकको चाहिये कि प्रत्येक स्थितिमें भगवान्का आश्रय लेकर सर्वत्र समभावसे प्रभुका चिन्तन करते हुए राग-द्वेष आदि विषम भावनाका सर्वथा त्याग कर दे। किसीको भी बुरा न समझे और किसीके दोष न देखे। किसीके भी दोषोंका वर्णन या चिन्तन न करे। अपने अन्त:करणमें समानभावसे सब प्राणियोंके हितकी भावनाको स्थायी करे। भगवान्ने निर्गुण निराकारकी उपासनाका वर्णन करते हुए भी साधकको '**सर्वभूतहिते रता:**' का

विशेषण दिया है गीता (१२।४)। गीता (५।२५)-में भी विषमताके नाशको और समभावसे सब प्राणियोंके हितमें लगे रहनेको परमात्माकी प्राप्तिका साधन माना है।

गीताके श्लोकोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह स्पष्ट समझमें आ सकता है कि राग-द्वेष, हर्ष-शोक, चिन्ता-भय आदि समस्त विकारोंका मूल कारण विषमभाव ही है; अतः इसका सर्वथा त्याग करना साधकके लिये परम आवश्यक है।

साधकको चाहिये कि अपनी अनुकूलताको पूरी करनेके लिये आग्रह, इच्छा और कामना न करे। उसके पूरी न होनेमें चिन्ता, शोक, भय तथा अन्य किसी प्रकारकी व्याकुलता आदिके भाव अन्तःकरणमें उत्पन्न न होने दे। गीता (५।२०)-में भी भगवान्ने स्पष्ट कहा है—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।'

गीता (५।१८-१९)-में भी समत्वका महत्त्व इस प्रकार दिखलाया गया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

'जो ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी ही होते हैं, जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है; क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं।'

लोगोंके साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी सर्वत्र समदर्शन और समभावको दृढ़ करनेके लिये नीचे लिखे अनुसार साधन करना चाहिये। जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ-पैर और गुदादिके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिका-सा बर्ताव करता हुआ भी अपना आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होनेसे सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सब प्राणियोंमें देखना चाहिये। इससे यथायोग्य व्यवहार स्वाभाविक ही हो सकता है।

भगवान् स्वयं भी सबमें समभाव रखते हुए यथायोग्य व्यवहार करते हैं। इसका स्पष्टीकरण गीता (९।२९)-में इस प्रकार किया गया है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

'मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।'

गीता (१३।९)-में भी भगवान्ने अनुकूलता और प्रतिकूलताकी प्राप्तिमें सदैव चित्तकी समताको ज्ञानयोगका साधन माना है तथा इसी अध्यायके (श्लोक २७-२८)-में भगवान्को सर्वत्र समभावसे स्थित देखनेवालेकी प्रशंसा की गयी है और उसका फल परमगतिकी प्राप्ति बतलाया है।

वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि अनित्य हैं। उनका आधार लेनेवाला, उनको अपना माननेवाला कोई भी साधक विषमताका त्याग और समताकी प्राप्ति नहीं कर सकता। ये सब भगवान्के विधानके अनुसार प्रभुकी कृपासे प्राप्त होते हैं। प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही उनका सदुपयोग करना चाहिये। उनसे सम्बन्ध करके उनके द्वारा सुख भोगनेकी इच्छा करना पतनका मार्ग है; क्योंकि कोई भी कामनायुक्त मनुष्य समतामें स्थित नहीं रह सकता। अतः साधकको आसक्ति, कामना, ममता और भयका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। इन सब दोषोंकी उत्पत्ति विषमतासे होती है और ये विषमताको दृढ़ करते रहते हैं। इसलिये साधकको इन सब दोषोंके नाश करनेके लिये संसार और शरीरको अनित्य और दुःखरूप समझकर उनसे वैराग्य करना चाहिये। गीता (५।२२)-में कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले

अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

भगवान्‌की कृपासे प्राप्त हुई सामर्थ्य और पदार्थोंका प्रभुके लिये ही निष्कामभावसे सदुपयोग करनेसे भी आसक्तिका नाश हो जाता है। उनमें ममताके त्यागसे नवीन आसक्ति नहीं उत्पन्न होती। इस प्रकार विद्यमान आसक्तिका नाश और नवीन रागकी उत्पत्ति न होनेसे अनायास ही समत्व प्राप्त हो सकता है; क्योंकि विषमताका कारण राग-द्वेष ही है।

सुख-दुःख, लाभ-हानि दिन-रातकी भाँति आने-जानेवाली वस्तु हैं। उनसे नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता। जिनसे नित्य सम्बन्ध नहीं रह सकता—उनमें ममता, आशा, कामना या उनसे भय करना सर्वथा भूल है। इस भूलके कारण ही अनेक प्रकारकी आसक्तियाँ, क्षोभ, क्रोध, लोभ, भय, व्याकुलता, अशान्ति आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। अतः साधकको सुखमें आसक्ति और दुःखके भयको सर्वथा त्याग करके सदैव समतामें स्थित रहना चाहिये। इसके लिये भगवान्‌ने गीता (२।१५)-में कहा है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है।'

अध्याय २ श्लोक ५६ में कहा गया है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

'दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है।'

सुख-दुःखमें सम रहनेवाले साधकके राग-द्वेषका सहजमें ही नाश हो जाता है। अपनी इच्छाकी पूर्ति चाहनेवाला न तो सुख-दुःखमें सम रह सकता है और न अनुकूलता और प्रतिकूलतामें ही सम रह सकता है, फिर वह अन्य किसी परिस्थितिमें भी कैसे समभाव रख सकता है? इसलिये—

अनिच्छा, परेच्छा और स्वेच्छापूर्वक प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ और भावोंकी प्राप्तिमें राग-द्वेषसे रहित होकर समभावमें स्थित रहना चाहिये।

समता तीन प्रकारकी होती है। परमात्माके स्वरूपकी, सिद्ध पुरुषके हृदयकी और साधकके कर्तव्यकी। गीता (५।१९)-में परमात्माके स्वरूपकी, अध्याय ६ श्लोक ७-८-९ में योगी महात्माके हृदयकी और बारहवें अध्यायके श्लोक १८-१९ में भगवत्प्राप्त भक्तोंकी, चौदहवें अध्यायके श्लोक २४-२५ में गुणातीत महात्मा पुरुषकी, दूसरे अध्यायके १५वें श्लोकमें सांख्ययोगके साधककी, दूसरे अध्यायके ३८वें श्लोकमें सांख्ययोग और कर्मयोग तथा सब प्रकारके साधकोंकी और दूसरे अध्यायके ४८वें श्लोकमें निष्काम कर्मयोगके साधककी समताका वर्णन है। सिद्ध पुरुषके हृदयमें जो समताका भाव है, साधकके लिये वही साध्य है। इसलिये सब प्रकारसे मनुष्यको समताका साधन विशेषरूपसे करना चाहिये।

'मुझे दो बस इतना वरदान'

(श्रीधर्मजितजी जिज्ञासु)

मुझे दो बस इतना वरदान।
विपद का सिर पर गिरे पहाड़, रहे तब भी मुख पर मुसकान।
रखो सुख वैभव अपने पास, मुझे दो सहने का अभ्यास॥ मुझे दो बस....
न व्यापे मुझको गरमी शीत, न विचलित करे भूख और प्यास।
तिलक हो नित लोह से लाल, पसीने से होता हो स्नान॥ मुझे दो बस....
सुलाये गहरी नींद थकान, न मुझको जला सके अपमान।
न मुझको रिझा सके सम्मान, बना दो ऐसा दृढ़ पाषाण॥ मुझे दो बस....

[प्रेषक—श्रीहरिश्चन्द्रजी शर्मा]

श्रीमद्देवीभागवतकी पाठविधि

(पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

देवीभागवतं नाम पुराणं परमोत्तमम्।
त्रैलोक्यजननी साक्षाद् गीयते यत्र शाश्वती॥
श्रीमद्भागवतं यस्तु पठेद्वा शृणुयादपि।
श्लोकार्धं श्लोकपादं वा स याति परमां गतिम्॥

श्रीमद्देवीभागवत नामक पुराण सभी पुराणोंमें अतिश्रेष्ठ है, जिसमें तीनों लोकोंकी जननी साक्षात् सनातनी भगवतीकी महिमा गायी गयी है। जो श्रीमद्देवीभागवतके आधे श्लोक या चौथाई श्लोकको भी प्रतिदिन सुनता या पढ़ता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है।

श्रीमद्देवीभागवतके नवाह्नकी विधि है। दोनों नवरात्रोंमें तथा आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, कार्तिक, मार्गशीर्ष, माघ एवं फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदासे नवमीतक इसके अनुष्ठानका विधान है। इसे 'नवाहयज्ञ' कहा जाता है। एतदर्थ कथा-स्थानकी भूमि का संशोधन, मार्जन-लेपनादिकर कदली-स्तम्भादिसे मण्डित मण्डप बनाना चाहिये। मण्डपका स्थान शुभ तथा बराबर होना चाहिये। उसका मान १६ हाथ लम्बा-चौड़ा हो तथा उसे तोरण, विमान एवं ध्वजा-पताकासे मण्डित किया जाय। मण्डपके बीचमें चार हाथ लम्बी-चौड़ी तथा एक हाथ ऊँची वेदी होनी चाहिये। फिर प्रतिपद्को प्रातः उठकर हृदय या शिरोदेशमें उज्ज्वल-पद्मके अन्तर्गत गुरुका ध्यान करना चाहिये। फिर शिखाके बीच इस रूपमें देवीका ध्यान करना चाहिये—

प्रकाशमानां प्रथमे प्रयाणे
प्रतिप्रयाणेऽप्यमृतायमानाम्।
अन्तःपदव्यामनुसंचरन्ती-
मानन्दरूपामबलां प्रपद्ये॥
(श्रीमद्देवीभा० ७।४०।३)

प्रथम प्रयाणमें अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रमें संचरण करनेपर प्रकाश-पुंजरूपवाली, प्रतिप्रयाणमें अर्थात् मूलाधारमें संचरण करनेपर अमृतमयस्वरूपवाली तथा अन्तःपदमें अर्थात् सुषुम्णा नाड़ीमें विराजनेपर आनन्दमयी स्त्रीरूपिणी देवी कुण्डलिनीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

तत्पश्चात् किसी नदी, तड़ाग, सरोवर या पहाड़ी झील, झरने आदिमें स्नानकर नित्यकृत्य करना चाहिये। फिर भूतशुद्धि, मातृकान्यास एवं हल्लेखा-मातृकान्यास करना चाहिये। इसकी विधि यह है कि मूलाधारमें 'ह' कार, हृदयमें 'र'कार, भ्रूमध्यमें 'ई'कार और मस्तकमें 'ह्रीं'कारका न्यास करे। फिर उपयुक्त ब्राह्मणोंका वरणकर वेदीपर सिंहासन रखकर उसपर क्षौम (रेशमी) वस्त्र-युक्त चार हाथोंवाली जगदम्बिकाकी प्रतिमा स्थापित करे। उन्हें रत्नाभूषण तथा मुक्ताहारादिसे विभूषित करे। चार हाथोंमें शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण कराये या अठारह भुजावाली प्रतिमा स्थापित करे। प्रतिमाके अभावमें 'नवार्ण मन्त्र' का यन्त्र ही रख दे। फिर पंचपल्लवादिसंयुक्त एक कलश वेद-मन्त्रोंसे संस्कृतकर श्रेष्ठ तीर्थके जलसे भरकर पास ही स्थापित करे। तत्पश्चात् गणपति-पूजन, बटुक, क्षेत्रपाल, योगिनी, मातृका, नवग्रह, तुलसी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, लोकपाल, दिक्पाल आदिकी पूजाकर षोडशोपचार तथा श्रीसूक्त या नवार्णमन्त्रसे भगवती महाशक्तिकी पूजा करे। देवी-पूजनमें चन्दन, अगर या अष्टगन्ध* तथा अशोक, चम्पा, करवीर, मालती, मन्दार आदिके पुष्पों, बिल्व तथा तुलसी आदिका प्रयोग श्रेष्ठ है। फलोंमें नारियल, नारंगी, अनार, केला, आम शुभ हैं। तत्पश्चात् १६ उपचारोंसे देवीभागवत-ग्रन्थकी भी पूजा करे। अन्तमें फिर इस प्रकार स्तुति करनी चाहिये—

कात्यायनि महामाये भवानि भुवनेश्वरि॥
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर कृपामये।
ब्रह्मविष्णुशिवाराध्ये प्रसीद जगदम्बिके॥
मनोऽभिलषितं देवि वरं देहि नमोऽस्तु ते।
(श्रीमद्देवीभा० माहात्म्य ५।३१—३३)

हे कात्यायनि! हे महामाये! हे भुवनेश्वरि! हे कृपामये! हे भवानि! मैं संसार-सागरमें डूब रहा हूँ; मेरा उद्धार कीजिये तथा हे ब्रह्मा, विष्णु, महेशसे पूजनीया माता जगदम्बिके! मेरे

---

* चन्दनागुरुकर्पूरचौरकुङ्कुमरोचनाः। जटामांसी कपियुता शक्तेर्गन्धाष्टकं विदुः॥ (तन्त्रसार—कलावती दीक्षा ५।१)

अर्थात् चन्दन, अगुरु, कपूर, कृष्णशुंठी, कुंकुम (केसर), गोरोचन, जटामांसी तथा गांटना (एक प्रकारका करंज) मिलाकर शक्तिका अष्टगन्ध बनता है।

ऊपर प्रसन्न होइये। हे देवि! आप मुझे मनोवांछित वर प्रदान कीजिये; आपको बार-बार प्रणाम है।

तत्पश्चात् इस प्रकार ऋष्यादिका न्यासकर पाठ आरम्भ करे—

ॐ अस्य श्रीमद्देवीभागवताख्यस्तोत्रमन्त्रस्य श्रीकृष्णद्वैपायन ऋषिः, अनुष्टुप् छन्दः, श्रीमणिद्वीपाधिवासिनी भगवती महाशक्तिः देवता, ब्रह्म बीजम्, गायत्री शक्तिः, भुक्तिमुक्तीके कीलकम्, पुरुषार्थचतुष्टयसिद्ध्यर्थं पाठे विनियोगः।

फिर 'नवार्णमन्त्र' से अंगन्यास-करन्यास करके इस प्रकार ध्यान करे—

बालार्कायुततेजसां त्रिनयनां रक्ताम्बरोल्लासिनीं
नानालङ्कृतिराजमानवपुषां बालोडुराट्शेखराम्।
हस्तैरिक्षुधनुःसृणिं सुमशरं पाशं मुदा बिभ्रतीं
श्रीचक्रस्थितसुन्दरीं त्रिजगतामाधारभूतां स्मरेत्॥

अथवा

सुधाकूपारान्तस्त्रिदशतरुवाटीविलसिते
मणिद्वीपे चिन्तामणिमयगृहे चित्ररुचिरे।
विराजन्तीमम्बां परशिवहृदि स्मेरवदनां
नरो ध्यात्वा भोगं भजति खलु मोक्षञ्च लभते॥
ब्रह्मेशाच्युतशक्राद्यैर्महर्षिभिरुपासिता।
जगतां श्रेयसे सास्तु मणिद्वीपाधिदेवता॥

(श्रीमद्देवीभा० माहात्म्य ५। १०१-१०२)

अमृत-सागरके तटपर कल्पवृक्षकी वाटिकासे सुशोभित मणिद्वीपमें स्थित बहुवर्णचित्रित चिन्तामणिमय भवनमें तथा परम शिवके हृदयमें विराजमान रहनेवाली और मन्द-मन्द मुसकानयुक्त मुखमण्डलवाली जगदम्बाका ध्यान करके मनुष्य सांसारिक सुखोंका उपभोग करता है और अन्तमें निश्चय ही मोक्ष प्राप्त करता है। इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र—आदि देवताओं एवं समस्त महर्षियोंद्वारा पूजित मणिद्वीपनिवासिनी वे भगवती संसारका कल्याण करती रहें।

पाठ आरम्भ करनेके बाद फिर अध्यायके बीचमें नहीं रुकना चाहिये। रुक जानेपर पुनः उसी अध्यायको आरम्भसे पढ़ना चाहिये। मध्यम स्वरसे श्रद्धापूर्वक धीरे-धीरे स्पष्ट पाठ करना चाहिये। गीत गाना, जल्दी करना, सिर कँपाना, अशुद्ध या अस्पष्ट उच्चारण करना, बिना अर्थ समझे ही पाठ करना—ये पाठके दोष हैं। पाठमें यथासाध्य इन दोषोंसे बचे रहना चाहिये। क्रोध, मद, त्वरा बाधक हैं। मनकी पवित्रता, शरीरकी पवित्रता अधिक सहायक है। दोपहरके बाद एक घड़ी विश्रामकर तथा लघुशंका आदिसे निवृत्त होकर पुनः पाठ करना चाहिये। फिर संध्या-समय प्रतिदिन क्रमशः निम्नलिखित स्थलोंपर विश्राम करना चाहिये।

नवाह्न-पारायणके विश्रामस्थल

प्रथम दिन	तृतीय स्कन्धके तृतीय अध्यायकी समाप्तिपर	
द्वितीय ,,	चतुर्थ ,,	अष्टम ,, ,,
तृतीय ,,	पंचम ,,	अष्टादश ,, ,,
चतुर्थ ,,	षष्ठ ,,	अष्टादश ,, ,,
पंचम ,,	सप्तम ,,	अष्टादश ,, ,,
षष्ठ ,,	अष्टम ,,	सप्तदश ,, ,,
सप्तम ,,	नवम ,,	अट्ठाईसवें ,, ,,
अष्टम ,,	दशम ,,	त्रयोदश ,, ,,
नवम ,,	द्वादश स्कन्धकी समाप्तिपर	

कथारम्भमें सोम, बुध, गुरु, शुक्रवार; अश्विनी, रोहिणी, मृगशिरा, पुष्य, हस्त, अनुराधा, मूल तथा श्रवण नक्षत्र शुभ हैं। बृहस्पति जिस नक्षत्रमें हों, वहाँसे चौथे नक्षत्रतक कथा आरम्भ करनेसे धर्मप्राप्ति, ५ से ८ वेंतक लक्ष्मीप्राप्ति, पुनः ९ में सिद्धि, १० से १४ तक सुख प्राप्त होता है। गुर्वधिष्ठित नक्षत्रसे २० नक्षत्रोंतकमें कथारम्भ करनेसे पीड़ा, २४ वेंतक राजभय तथा २७ वेंतक ज्ञानकी प्राप्ति होती है। इस चक्रका ध्यान रखना आवश्यक है। (किंतु नवरात्रोंमें देवीभागवत-कथामें चक्र-विचार अपेक्षित नहीं है।) अनुष्ठानके समय ब्रह्मचर्य, भूमिशयन, सत्यवचन तथा इन्द्रियसंयम अत्यन्त आवश्यक है। पत्तलमें भोजन करना चाहिये। बैगन, दाल, बहेड़ा, मधु, तैल, बासी तथा दूषित अन्न नहीं खाना चाहिये। रजस्वला आदिसे स्पृष्ट तथा मसूर, मूली, हींग, प्याज, गाजर, कुम्हड़ा तथा नलिका आदिका शाक भी नहीं खाना चाहिये। प्रतिदिन कुमारीपूजन करना चाहिये या प्रतिदिन क्रमशः दुगुनी, तिगुनी पूजा बढ़ाते जाय। एक वर्षकी कन्याकी पूजा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उसे गन्धादिका कोई भी ज्ञान नहीं होता। दोसे नौ वर्षोंतककी कन्याएँ पूज्य हैं। अन्तिम दिन गायत्रीसहस्रनामका पाठ करना चाहिये और सप्तशतीके मन्त्रोंसे हवन करना चाहिये अथवा गायत्री या नवार्णमन्त्रसे हवन किया जाय। यह संक्षेपमें देवीभागवतकी पाठविधि है।

भगवत्प्राप्ति

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्राय: लोग पूछा करते हैं कि क्या भगवत्प्राप्ति इसी जन्ममें हो सकती है? इसपर यही कहना है कि ऐसा एक ही जन्ममें हो सकता है या अनेक जन्मोंमें, इसका कोई नियम नहीं है, किंतु जब भगवान्‌के प्रति प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हो जाता है, भगवान् भी मिल जाते हैं। *'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥'* अनेक जन्मोंतक भी यदि प्रेमका संचार न हो तो भगवान् नहीं प्राप्त होते, प्रेम प्रकट हो जानेपर भगवान् एक ही जन्ममें मिल जाते हैं। जिस समय भक्त भगवान्‌से मिलनेके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित होकर स्वाध्याय, ध्यान आदिको प्राप्त होता है, उस समय भगवान्‌को अवश्य प्रकट होना पड़ता है। आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम, परम निष्काम भगवान् परम स्वतन्त्र हैं; तथापि भक्तके प्रेममें पराधीन होना उनका एक स्वभाव है। अनुभवी लोगोंने कहा है—

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद् बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम्॥

अहो! कोई निर्गुण-निराकार-निर्विकार ब्रह्मको, कोई सगुण-साकार ब्रह्मको भजते हैं; परंतु मैं तो उस प्रेमबन्धनको भजता हूँ; जिससे बँधकर अनन्त प्राणियोंको मुक्ति देनेवाला, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म स्वयं भक्तोंका खिलौना बन जाता है। जिस समय भक्त भगवान्‌के बिना न रह सके, उस समय भगवान् भी भक्तके बिना नहीं रह सकते। जैसे पंखरहित पक्षिशावक अपनी माँको पानेके लिये व्याकुल रहते हैं, जैसे क्षुधार्त वत्सतर (छोटे गोवत्स) माँका दूध चाहते हैं, किंवा परदेश गये हुए प्रियतमसे मिलनेके लिये प्रेयसी विषण्ण होती है, हे कमलनयन! मेरा मन आपको देखनेके लिये वैसे ही उत्कण्ठित होता है—**'अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः। प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥'** (श्रीमद्भा० ६।११।२६) इस प्रकार भक्तकी सोत्कण्ठ प्रार्थनासे भगवान् द्रुत होकर भक्तसे मिलनेको दौड़ पड़ते हैं।

हाँ, यह ठीक ही है कि भगवत्सम्मिलनकी ऐसी उत्कट उत्कण्ठा सरल नहीं है, किंतु जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरोंके पुण्यपुंजसे ही भगवान्‌में उत्कट प्रीति प्राप्त होती है। इसलिये उपनिषदोंने कहा है कि ब्राह्मणादि अधिकारी लोग यज्ञ, तप, दान और अनशनादि सत्कर्मोंसे उन परमतत्त्व भगवान्‌को जाननेकी उत्कट इच्छा उत्पन्न करते हैं—

तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन। जब उस परमतत्त्वकी जिज्ञासा ही उत्पन्न करनेमें अनेक जन्मोंके सत्कर्मोंकी अपेक्षा होती है, तब स्पष्ट ही है कि जिसे भगवत्सम्मिलनकी उत्कट कामना है, जिसे भगवान्‌के न मिलनेसे महती व्याकुलता है, वह केवल इसी जन्मका सत्कर्मी नहीं, अपितु पहले जन्मोंसे भी उसका इस सम्बन्धमें प्रयत्न चल रहा है। इस दृष्टिसे ध्रुवकी जन्मान्तरीय तपस्याओं तथा **'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।'** इत्यादि वचनोंकी संगति लग जाती है। प्रेमके उत्कट हो जानेपर उसी क्षण भगवान्‌का दर्शन होता है। फूल तोड़नेमें विलम्ब हो सकता है, किंतु उस समय भगवान्‌के मिलनेमें किंचित् भी विलम्ब नहीं होता। भगवान् प्राणियोंके अन्तरात्मा, सर्वसाक्षी हैं, उनको पानेमें कौन कठिनाई? **'कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः।'** (श्रीमद्भा० ७।७।३८) इत्यादि बातोंकी भी संगति लगती है। भगवत्प्राप्तिमें अत्यन्त प्रयत्न करनेकी अपेक्षा बतलानेके लिये शास्त्रोंने भगवान्‌को अत्यन्त दुर्लभ और दुर्गम कहा है—**'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च।'** भगवान् दूर-से-दूर और समीप-से-समीप हैं।

भगवान्‌की भक्तिमें धनकी उतनी विशेष आवश्यकता नहीं होती, वे तो प्रेमके भूखे हैं। प्रेमसे थोड़ी भी वस्तु प्रभुके लिये बहुत होती है, बिना प्रेमके बहुत-सी वस्तु नहींके बराबर है—**'भूर्यप्यभक्तोपहृतन्न मे तोषाय कल्पते। अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्य्येव मे भवेत्॥'** श्रीमद्वल्लभाचार्यजीका कहना है—**'प्रेम्णा समर्पितं वस्तु हृदयेन समर्पितं भवति। हृदयेन समर्पितं च तत् हृदयेनैव गृह्यते॥' 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'**

प्रेमसे समर्पित वस्तु हृदयसे समर्पित होती है, हृदयसे समर्पित वस्तुको भगवान् भी हृदयसे ही ग्रहण करते हैं; क्योंकि उनका तो यह नियम है कि जो जिस तरह मेरी शरणमें आता है, मैं भी उसी तरह उसे भजता हूँ। महर्षि गौतमकृत न्यायदर्शनका '**युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम्**' यह सूत्र है, उसमें कहा गया है कि मन अणु-परिमाणपरिमित है; क्योंकि एक क्षणमें ज्ञानद्वय उत्पन्न नहीं होते। वह बड़ा होता तो एक ही क्षणमें दो ज्ञान उत्पन्न होते। अणुपरिमाणको भरनेके लिये भक्तिरसप्लुत तुलसीदल भी पर्याप्त है। जो बाह्यभावसे भगवान्को कोई वस्तु समर्पित करता है, भगवान् भी बाह्यरूपसे ही उसे ग्रहण करते हैं। वह भगवद्रूप महाविराट् है, जिसके अंग-प्रत्यंगोंके वर्णनमें आकाशको 'उदर' माना गया है। आकाशको कोई कैसे भर सकता है? यद्यपि भगवान् '**अप्राणो ह्यमनाः**'—अप्राण और अमना हैं तथापि क्रीडार्थ मन बनाते हैं—'**रन्तुं मनश्चक्रे।**' (श्रीमद्भा० १०। २९। १)

भगवान्से जिस किसी तरह सम्बन्ध हो जाय, फिर प्राणीका कल्याण होते देर नहीं लगती। पूतना कालकूट विष अपने स्तनोंमें लगाकर आयी थी, परंतु श्रीकृष्णसे सम्बन्ध होते ही परमगति पा गयी—'**जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम्**' (श्रीमद्भा० १०। ६। ३५)। श्रीकृष्णसे सम्बन्ध होनेके लिये आवश्यक है कि पहले अपना रहन-सहन, चाल-चलन, आचार-विचार शास्त्रानुसारी बनाया जाय। भगवान् श्रीकृष्ण भी वर्णाश्रमधर्मका पालन करते थे—

अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥

(श्रीमद्भा० १०। ७०। ६)

तात्पर्य है कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र प्रातःकाल अपने निर्गुण, निराकार, निर्विकारस्वरूपका चिन्तन करके निर्मल जलमें स्नान करते और सन्ध्या, गायत्रीजप आदि करते थे।

भगवान्के ये सब कार्य लोकशिक्षणार्थ थे, उन्हें इन कर्मोंके फलकी अपेक्षा नहीं थी। अधिकारानुसार शास्त्रोक्त कर्मानुष्ठानसे ही ऐहिक, पारलौकिक सर्वविध अभ्युदय और अन्तमें प्रभुसम्मिलनरूप निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। अतः उनके भक्तोंको भी उन सत्कर्मोंका अच्छी तरह पालन करना चाहिये।

एक साधकके उद्गार

प्रभो! आपके बिना मेरे हृदयपर क्या बीतती है, कैसे बताऊँ। अपना प्रेम देकर मुझे कृतार्थ कीजिये। मैं रात-दिन आपके प्रेममें डूबा रहूँ। मैं अवश्य ही इस योग्य नहीं हूँ, पर आप तो सर्वसमर्थ हैं। ब्रह्माको मच्छर और मच्छरको ब्रह्मा बना सकते हैं। आप मेरे हृदयकी मलिनताकी ओर न देखें। मेरे हृदयके किसी कोनेमें जो प्रियतम प्रभुकी मधुर स्मृति बनी है, उसीकी ओर देखकर मेरे अवगुणोंको भूल जायँ। वह मधुर स्मृति सदा सुरक्षित रहे और सदा बढ़ती ही रहे, ऐसी ही कृपा आप करते रहें। मैं हृदयको सदा अपने जीवन-धनसे भरा देखूँ और उन्हें निरन्तर हृदयमन्दिरमें पूर्णरूपसे विराजित देखकर प्रफुल्लित होता रहूँ।

प्रभो! जिस समय मधुर स्मृतिजनित आपके दर्शन होते हैं, उस समय हृदय जिस परमानन्दसे भर जाता है, वह अकथनीय है; पर दूसरे ही क्षण प्रतीत होता है कि वे तो समीप नहीं हैं, तब अपार तथा सीमारहित दुःख होने लगता है।

× × × ×

मेरे मनमें शरीरके आरामकी और नामके नामकी इच्छा, बड़ाईकी कामना अभीतक जाग्रत् है, इसीसे तो निरन्तर आपका मधुर मिलन नहीं हो रहा है। जिस दिन ये दोष समाप्त हो जायँगे, उस दिन आप मुझसे पृथक् नहीं रहेंगे। इन सारे दोषोंने बीचमें कई दीवारें खड़ी कर रखी हैं। इन लम्बी-ऊँची दीवारोंके रहते मैं कैसे नित्य-निरन्तर मधुर मिलनका आनन्द ले सकता हूँ? पर इन दीवारोंको ढहानेका काम भी तो आपहीको करना है मेरे स्वामी! आप जाँच-परख लीजिये—मेरे हृदयमें आपकी कुछ चाह है या नहीं; और यह भी देख लीजिये कि इस 'कुछ चाह' को असीम बनानेकी चाह भी है या नहीं। यदि है, तो प्रभो! आप इसे असीमरूपमें बढ़ाकर तुरंत पूर्ण करनेकी कृपा कीजिये।

निर्गुण निराकार ब्रह्मत्व और उसकी प्राप्तिका साधन

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

एक प्रश्न है कि जो निराकार ब्रह्ममें रुचि रखते हैं; वे ब्रह्म-साक्षात्कारके लिये क्या सम्बन्ध जोड़ें, कैसे जोड़ें? इसमें समझनेकी बात यह है कि जहाँ भगवान्‌का आकार सगुण विग्रह है—साकार स्वरूप है, वहाँ सम्बन्ध जोड़ना है और जहाँ निराकार निर्विशेष ब्रह्मका क्षेत्र है, वहाँ सारे सम्बन्धोंको तोड़कर जुड़े हुए सम्बन्धको जानना है। सम्बन्ध जोड़ना नहीं है। जगत्‌के सारे सम्बन्धोंको तोड़ना है। तोड़ना भी कोई इस प्रकार नहीं है कि चीज तो रही; परंतु उसके साथ अपना सम्पर्क नहीं हो। यूँ नहीं तोड़ना है। उन वस्तुओंका ही अभाव कर देना है; जिन-जिनसे हमारा सम्बन्ध ममताका, आसक्तिका और अहंताका है; उन सारी वस्तुओंका अभाव कर दे और ब्रह्मके साथ, भगवान्‌के साथ, आत्माके साथ कुछ भी उनका नाम रखे कोई आपत्ति नहीं है, जो नित्य सम्बन्ध है; जिस सम्बन्धकी विस्मृति हो गयी है, उसका स्मरण करके अनुभव करने लगे। यह सम्बन्ध जोड़ना है।

ऐसा कहा जाता है और यह ठीक है कि ज्ञानकी प्राप्ति अज्ञानियोंके लिये ही कहनेकी चीज है। जो तत्त्वज्ञान है—ब्रह्मका स्वरूप है, उसकी प्राप्ति नहीं हुआ करती है। अमुक कालमें हमको ब्रह्म-साक्षात्कार हुआ—यह कहना ठीक बनता नहीं है। यह थोड़ी-सी समझनेकी चीज है। जहाँ विशुद्ध आत्मतत्त्व है, वहाँ तो कभी अज्ञान हुआ नहीं और जहाँ जीवतत्त्व है, वहाँ ज्ञान हुआ नहीं। ज्ञान होनेपर भी रहता नहीं। पहले अज्ञान था, अब ज्ञान हो गया—इस प्रकारकी कल्पना वहाँ रहती नहीं है और मनको, बुद्धिको तथा इन्द्रियोंको ज्ञान होता नहीं है; क्योंकि ये जड़ हैं। इसलिये ज्ञान होता नहीं है। केवल नित्यप्राप्त वस्तुमें जो अप्राप्तिका भ्रम है, इस भ्रमको मिटा देना ही ब्रह्मकी प्राप्ति है।

वेदव्यासजीने एक बार अपने पुत्र शुकदेवजीको महाराज जनकके पास भेजा। वेदव्यासजी सर्वज्ञानसम्पन्न थे। वे भगवान्‌के स्वरूप ही रहे, परंतु शुकदेवजीकी समस्याका समाधान उनसे नहीं हुआ। बिना श्रद्धाके कार्य होता नहीं है। व्यासजीने शुकदेवजीसे कहा—तुम महाराज जनकके पास जाओ। जब शुकदेवजी जनकजीके पास गये तो वहाँ पहलेसे ही व्यवस्था थी। शुकदेवजी पहले नगरके दरवाजेपर रोके गये। वहाँसे किसी तरह अन्दर प्राचीरमें घुस पाये और महलके दरवाजेपर जब पहुँचे तो वहाँ रोक दिये गये। उनसे कहा गया कि अन्दर जानेकी आज्ञा नहीं है। आप यहीं खड़े रहें। अन्दरसे जब बुलाहट आयेगी तब आप जा सकते हैं। द्वारपालोंको पहलेसे ही कह दिया गया था कि उनका अनादर नहीं करना है; परंतु स्वागत भी नहीं करना है। यदि खड़े रहें तो खड़े रहने देना और बैठें तो बैठे रहने देना है। कुछ कहना-करना नहीं है। वहाँ शुकदेवजी जिस खुशीको लेकर आये थे, वही हँसी मुखपर लिये वहीं खड़े रहे। इस प्रसंगमें कहीं वर्णन आता है कि तीन प्रहर बीते, कहीं आता है कि तीन दिन बीते और कहीं आता है कि सात दिन बीते, परंतु वे लगातार उसी प्रकारसे निर्विकल्पभावसे और बिना किसी प्रकारकी हलचल मनमें हुए खड़े रहे। राजा जनक पता लगाते रहे कि उनमें कोई परिवर्तन हो रहा है या नहीं। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। तब राजा जनकने दूसरी आज्ञा दी कि अब इन्हें अन्दर ले जाया जाय और जो प्रमोदारण्य—विहारवन है, वहाँ इनको भेज दिया जाय। वहाँ सब प्रकारकी इन्द्रियसुखकी सामग्री प्रचुर मात्रामें एक-से-एक बढ़कर उपलब्ध थी। वहाँपर इनकी सेवाके लिये तरुणी स्त्रियोंको भेज दिया गया। पचास देवियोंको आज्ञा हो गयी कि वे इनकी हर तरहसे सेवा करें। ऐसा निर्देश हो गया। वे इनकी सेवामें लग गयीं। इनको खिलाना, पिलाना, सुलाना आदि सेवाकार्य वे करने लगीं। शुकदेवजीका मन जैसे राजमहलके दरवाजेपर असत्कारके समय निर्विकार था, उसी प्रकारसे निर्विकार रहा। उनमें समता आ गयी थी। उनको न तो वहाँ दरवाजेपर तिरस्कार, अपमान और असुविधामें क्षोभका विकार हुआ, न उद्वेग हुआ और न ही यहाँ स्वागत-सत्कार—सम्मानमें, सुविधामें जरा भी उनके मनमें हर्षका विकार हुआ। राजा जनकने समझ

लिया कि ये अधिकारी पुरुष हैं। इसके बाद उन्हें अन्दर राजमहलमें बुलाया और राजा होनेके कारण, क्षत्रिय होनेके नाते उन्हें प्रणाम किया, पूजन किया, अर्घ्यदान दिया, मधुपर्क दिया और ससम्मान बैठाया। फिर उनसे प्रार्थना की कि महाराज! कैसे पधारे? जिज्ञासा थी ही। शुकदेवजीने कहा—पिताजीने आज्ञा दी है, आपके पास आनेके लिये। मैं तत्त्वज्ञान चाहता हूँ। जनकजीने फिर एक ही वाक्यमें सारी बात कह दी। उन्होंने कहा—'महाराज! आप तो तत्त्वज्ञानकी मूर्ति हैं। इतनी-सी बात है कि आप जो यह मान रहे हैं कि मुझे तत्त्वज्ञान नहीं है, इस मान्यताका परित्याग कर दीजिये। आपको तो तत्त्वज्ञान है ही।'

ब्रह्मका ज्ञान—अद्वय, निराकार, निर्विशेष जो तत्त्व है, उसकी प्राप्ति होती नहीं है। वह तो है ही। इसलिये ब्रह्म-उपासनामें—निर्गुण, निराकार, निर्विशेषोपासनामें सम्बन्ध जोड़नेकी आवश्यकता नहीं रहती है। सम्बन्ध जहाँ होता है, वहाँ वह किसीके साथ होता है और वह किसीके साथ जहाँ है वहाँ किसी दूसरेके लिये कल्पना है। दूसरा कोई है नहीं, इसलिये सम्बन्ध जोड़ना है नहीं। अपने स्वरूपरूपी, सम्बन्धको केवल जान लेना है। फिर, उसकी प्रक्रिया क्या है? बहुत-सी प्रक्रियाएँ हैं। सबको हटाते-हटाते जो बच जाय, वही ब्रह्मका स्वरूप है। परंतु हटाते-हटाते जो बच जाय, वह हटाना भी और बचना भी यदि वृत्तिजन्य है तो वह भी ब्रह्मका स्वरूप नहीं है। वृत्ति वहाँपर ब्रह्मका स्वरूप बनी हुई है। ब्रह्माकार वृत्तिको हम ध्यान कह सकते हैं, ब्रह्म नहीं कह सकते। वृत्ति ब्रह्माकार है न! वृत्तिजनित ब्रह्मकी अनुभूति है, ब्रह्मके स्वरूपका प्राकट्य नहीं है। जब यह वृत्ति भी नष्ट हो जाय तब जो रह जाय वह क्या रहा, इसका कोई नाम नहीं। उसके रहनेका अनुभव किसको है, यह कहना बनता नहीं है; क्योंकि अनुभव करनेवाला किसी अनुभवकी वस्तुके अभावमें, अपने द्रष्टाके अभावमें किसको देखेगा? जब दृष्टि और द्रष्टा दोनों नहीं रहे तो दर्शनकी संगता वहाँ होती नहीं है। वहाँ जो कुछ है वह अनिर्वचनीय है। उसको कहने, सुनने और जाननेकी आवश्यकता नहीं है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

(तैत्तिरीयोपनिषद् २।९।१)

मनके साथ बुद्धि और समस्त इन्द्रियाँ जहाँ जाकर लौट आती हैं, वह सांकेतिक रूपसे ब्रह्मका स्वरूप है।

एक प्रक्रिया तो यह हुई कि सभी विषयोंको हटाते-हटाते गये। दूसरा यह कि अपने अहंको उसीमें ले जाय। यह अहम् छोटा-सा है न! जो 'मैं' इस शरीरमें ही आकर केन्द्रित हो गया है। यह 'मैं'—यह 'मैं' और मेरा यह नाम तथा मैं यह कार्य करता हूँ—इस प्रकारका जो व्यावहारिक क्षेत्रका सत्य है, इसे ही हमने पारमार्थिक सत्य मान रखा है—यही भूल है।

तीन प्रकारके ज्ञान होते हैं। तीन प्रकारकी सत्ता मानी गयी है—पारमार्थिक, प्रातिभासिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक सत्ता जो है वह वस्तुका सत्-स्वरूप है, त्रिकालाबाधित है। प्रातिभासिक सत्तामें अधिष्ठान तो है परंतु दूसरी चीज दीखती है, व्यवहार नहीं है। व्यावहारिक सत्तामें परमार्थ तो है नहीं, प्रतिभास नहीं है और व्यवहार है। जैसे, सोना है—सोना सोना ही है। इसे गलाकर आभूषण-गहना बना दीजिये तब भी सोना रहेगा। गहना बननेके बाद भी सोना और गहना बननेके पहले भी सोना। त्रिकालमें सोना सत्य है। पारमार्थिक सत्ता जो नित्य-निरन्तर समरूपसे रहती है; जिसमें किसी कालका, किसी स्थितिका कोई भी बन्धन नहीं है। यह त्रिकालसत्य है। जो चारों अवस्थाओंमें और तीनों कालोंमें—भूत, भविष्य और वर्तमान तथा जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयमें सबमें समानरूपसे वर्तमान है, वह त्रिकालाबाधित सत्य पारमार्थिक सत्य है।

किसी कपड़ेपर ठीक सोनेके रंगके गहने बने हैं। ठीक गहना मालूम पड़ रहा है। किसी पर्देपर स्वर्णका मन्दिर बना है। वह ठीक स्वर्णका मन्दिर प्रतीत होता है और स्वर्णसे वह लगा हुआ तो है ही। वह बना है सोनेके पानीसे तो स्वर्ण है ही और ऐसा दीखता भी है कि गहना

है, मकान है, परंतु उसमें व्यवहार नहीं है। उस गहनेको कोई पहनना चाहे तो नहीं पहन सकता, उस मकानमें कोई रहना चाहे तो नहीं रह सकता। यद्यपि उसका नाम भी है, उसका रूप भी है और उसकी पारमार्थिक सत्ता भी है, परंतु व्यवहार नहीं है। इसको कहते हैं—प्रातिभासिक सत्ता।

तीसरी है—व्यावहारिक सत्ता। इसमें तीन बातें रहती हैं—नाम, रूप और व्यवहार। जैसे कोई गहना बना। गहना बननेके साथ-साथ उसमें तीन चीजें स्वाभाविक बनीं। उस गहनेका कोई नाम होगा। बिना नामके गहना पहचाना नहीं जाता। गहनेका कोई व्यवहार नहीं होता। किसीको हाथमें गहना पहनना हो; वह कहे कि कंगन लाओ और वह लाया नाकमें पहननेवाला गहना तो नाकमें पहननेवाला गहना हाथमें कैसे पहना जायगा? नामसे पहचान होती है। इसलिये नाम आवश्यक है। नामके साथ उसकी एक शक्ल (आकार) बननी चाहिये—लम्बी, चौड़ी, गोल या कैसी भी। यह उसका रूप बना और नाम-रूपके साथ-साथ व्यवहार बना। गलेका गहना गलेमें पहना जायगा। हाथका गहना हाथमें पहना जायगा। अँगूठी अँगुलीमें पहनी जायगी। यदि कहीं उलटा-सीधा पहनने लगे तो व्यवहार नहीं होगा। सभी गहनोंका भिन्न-भिन्न व्यवहार होगा। व्यावहारिक सत्तामें नाम अलग है, रूप अलग है और व्यवहार अलग है।

इसलिये आत्मज्ञानी पुरुषका व्यवहार नहीं बिगड़ता; क्योंकि व्यावहारिक सत्ता व्यवहारकालमें, व्यावहारिक क्षेत्रमें है। जब बाह्यज्ञान विलुप्त हो जाय तब दूसरी बात है, नहीं तो शरीरमें अन्त:करण जाग्रत् रहते बाह्यज्ञानका व्यवहार रहता है। सोनेका नाम बना, रूप बना और व्यवहार बना, परंतु क्या सोना बदला? है सोना ही, परंतु हम सोनेको भूलकर गहना मानने लगे हैं। [**क्रमशः**]

अन्तिम आकांक्षा

(श्रीमती इन्दुमतीजी पाण्डेय)

मिटा दो स्वाभिमान का भान॥
सकल चराचर में मैं केवल, हे रघुनाथ तुम्ही को जानूँ।
मधुकर नयन करें नित तुम्हरे, चरणकमल-मधुरस का पान॥
चर्मचक्षु से सदा निहारूँ, परम अलौकिक रूप तुम्हारा।
जाग्रति हो या हो सुषुप्ति, यह जिह्वा रटे तुम्हारा नाम॥ मिटा दो०
कण-कण में मुखरित सुन पाऊँ, पावन परम सुमंगल नाम।
सुख-दुःख जो भी मिले कर्मवश, हो स्वीकार समझ वरदान॥
स्वाँस-स्वाँस हिय के स्पन्दन सँग, जुड़े रहें श्रीसीताराम।
उत्पीड़न में अश्रु न छलकें, विकसित हो मुख पर मुसकान॥ मिटा दो०
किस बिधि पाऊँ दर्शन स्वामी, व्याकुल रहते प्राण हमारे।
त्रस्त हृदय को संबल दे दो, 'नामामृत' का शुभ वरदान॥
जब-जब विषम परिस्थिति आई, थाम लिया तुमने रघुरायी।
आर्त हृदय को हे प्रभु! देते, रहते सदा सान्त्वना दान॥ मिटा दो०
यह मेरी अन्तिम अभिलाषा, कृपा करो अब हे जगत्राता।
अहंकार गल जाय झुके शिर, कण-कण में तुमको पहचान॥
तुमको ही देखूँ मैं सब में, वचन-कर्म-मन से जीवन में।
टूटे जग का मिथ्या-दर्पण, 'परम सत्य' हो जीवन-प्राण॥ मिटा दो०

भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले पाँच साधन

(श्रीभँवरलालजी परिहार)

जाग मुसाफिर देख जरा तेरे कूच की नौबत बाज रही।
सोवत-सोवत बीत गई सब रात तुझे परभात भई॥
सब संग के साथी तो लाद गये तेरे नैनन नींद विराज रही।
कोई आज गया कोई काल गया कोई जावन काज तैयार खड़ा॥
नहीं कायम कोई मुकाम यहाँ चिरकाल से यही रिवाज रही॥

जिस संसारमें केवल चार दिन ही रहना है, उस क्षणभंगुर मानव-जीवनमें मिथ्या सुखों तथा विद्युच्चंचल भोगोंकी प्राप्तिके लिये मनुष्य कैसे-कैसे मनोरथ करता है तथा योजनाएँ बनाता है! जहाँ एक क्षण भी रहनेका पता नहीं, वहाँ वह कितनी गहरी नींव लगाता है? भगवान्‌की अपार कृपासे केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही प्राप्त इस देवदुर्लभ मानव-शरीरको मोहग्रस्त मनुष्य तुच्छ, व्यर्थ, अनर्थरूप सांसारिक कार्यों तथा भोगोंमें बर्बाद कर देता है। इस अज्ञानके परिणामस्वरूप वह इस जन्ममें न केवल महान् सन्ताप, अशान्ति, दुःख एवं पीड़ाको भोगता है, अपितु पापोंका भार लेकर नरकोंमें दीर्घकालतक जलने एवं अनन्तकालतक चौरासी लाख योनियोंमें भटकनेके लिये रोता-बिलखता हुआ इस संसारसे विदा हो जाता है। यह भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष तिरस्कार एवं मानव-जीवनका भारी दुरुपयोग है।

इन सम्पूर्ण दुःखोंसे छूटनेका एकमात्र उपाय केवल भगवत्प्राप्ति ही है। जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक दुःख, सन्ताप, अशान्ति आदि मनुष्यका पीछा नहीं छोड़ते। अतः बुद्धिमान् मनुष्य वही है जो इस मानव-शरीरमें आकर सबसे पहले सभी ओरसे मन हटाकर केवल भगवत्प्राप्तिके साधनमें उसी प्रकार संलग्न हो जाता है, जैसे भूखा मनुष्य सब काम छोड़कर सबसे पहले भोजन करनेमें लग जाता है।

इस बातपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है कि हम जिन प्राणी, पदार्थ, परिस्थितियोंकी प्राप्तिके लिये रात-दिन लगे हुए हैं एवं अपना मानव-जीवन बर्बाद कर रहे हैं, वे प्राणी, पदार्थ, परिस्थितियाँ हमारे साथ निरन्तर रहेंगी क्या? हम उनके साथ निरन्तर रह सकते हैं क्या? उनकी प्राप्तिसे हमारे सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त हो जायगा क्या? हमारा सम्पूर्ण प्रयास अन्ततः व्यर्थ तो नहीं हो जायगा? कुछ भी नहीं किया—'कुछ भी प्राप्त नहीं हुआ' में तो नहीं बदल जायगा? यदि हम ठण्डे दिलसे विचार करें तो यह स्पष्ट विवेक उदय होगा कि इस संसारमें भगवत्प्राप्तिके अलावा किसी भी अन्य कार्यसे स्थायी शान्ति-सुख प्राप्त नहीं हो सकता। भगवत्प्राप्तिसे ही मनुष्य कृतकृत्य, प्राप्तप्राप्तव्य एवं ज्ञातज्ञातव्य हो सकता है। फिर कुछ भी करना, जानना और प्राप्त करना बाकी नहीं रहता। हमेशा-हमेशाके लिये सुख-शान्ति, विश्राम और चैनकी प्राप्ति हो जाती है। अतः भगवत्प्राप्तिके लिये साधनामें संलग्न पुरुष ही सही अर्थमें बुद्धिमान् हैं। भगवान् कहते हैं—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११।२९।२२)

'विवेकियोंके विवेक और चतुरोंकी चतुराईकी पराकाष्ठा इसीमें है कि वे इस विनाशी और असत्य शरीरके द्वारा मुझ अविनाशी तथा सत्य परमात्माको प्राप्त कर लें।'

शास्त्रोंमें भगवत्प्राप्तिके लिये तीन प्रमुख योग बताये गये हैं—ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग। श्रीभगवान्‌ने कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।६)

'उद्धव! मैंने वेदोंमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये अधिकारीभेदसे तीन प्रकारके योगोंका उपदेश किया है। वे हैं—ज्ञान, कर्म और भक्ति। मनुष्यके परम कल्याणके लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।'

इन तीनों योगोंमें भक्तियोग ही सबसे अधिक सरल, सुगम, मधुर एवं शीघ्रफलप्रद है। श्रीरामचरितमानस, श्रीमद्भागवत, गीता आदि भक्तिप्रधान ग्रन्थ ही हैं। भक्तियोगमें भक्तको भगवान्‌से सुमधुर प्रेम करने, उनके दर्शन एवं वार्तालापका सुदुर्लभ सौभाग्य प्राप्त होता है, जो अन्य योगोंमें नहीं है। भगवान् केवल भक्तिसे ही पकड़में आते हैं, अन्य योगोंसे नहीं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् स्वयं कहते हैं—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयाऽऽत्मा प्रियः सताम्।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।२०-२१)

'उद्धव! योग-साधन, ज्ञान-विज्ञान, धर्मानुष्ठान, स्वाध्याय और तप-त्याग मुझे प्राप्त करानेमें उतने समर्थ नहीं हैं, जितनी दिनोंदिन बढ़नेवाली अनन्य प्रेममयी मेरी भक्ति। मैं सन्तोंका प्रियतम आत्मा हूँ, मैं अनन्य श्रद्धा और अनन्य भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ। मुझे प्राप्त करनेका यह एक ही उपाय है। मेरी अनन्य भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र—जातिदोषसे मुक्त कर देती है जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं।'

गीतामें भी भगवान्‌ने यही बात कही है—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

(गीता ११।५३-५४)

'जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ। परंतु हे परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ।'

अतः आध्यात्मिक उन्नति एवं आत्मकल्याणके लिये भक्तियोग ही वरेण्य है। भक्तिकी साधना विशद है और इसके कई भेद भी हैं। विभिन्न आचार्योंने विभिन्न प्रकारसे भक्तिकी व्याख्या की है। उन सबको पढ़नेसे साधक उलझनमें पड़ जाता है कि आखिर भक्ति है क्या? साधकको भक्तिके दार्शनिक पक्षको छोड़कर भगवान्‌के अनन्य प्रेमी भक्तोंकी दृष्टिमें भक्ति क्या है—उसपर ही ध्यान देना चाहिये। भक्तोंकी दृष्टिमें भगवान्‌में प्रगाढ़ आत्मीयता ही भक्ति है। भगवान्‌में ऐसा प्रबल अपनापन हो, जिससे चित्तवृत्ति निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे भगवान्‌की ओर ही बहती रहे। इसमें भक्तिकी अन्य सभी बातें अपने-आप ही आ जाती हैं।

जीवका इस संसारके साथ अनादिकालसे भूलसे माना हुआ अपनेपनका सम्बन्ध है। इस सम्बन्धको एक ही झटकेमें काट देनेकी बात सुननेमें तो बहुत सुहावनी लगती है, किंतु यथार्थतः क्रियात्मकरूपसे यह उतनी सरल नहीं है। भजन-साधना किये बिना कोई भी व्यक्ति भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर सकता। गोस्वामीजीने लिखा है—

बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

(रा०च०मा० ७।१२२ (क))

पानीको मथनेसे भले ही घी निकल जाय, बालू-मिट्टीको मथनेसे उसमेंसे भले ही तेल निकल जाय, किंतु भगवान्‌का भजन किये बिना कल्याण नहीं हो सकता—यह अकाट्य सिद्धान्त है।

अतः साधक भक्तिकी चाहे किसी भी विचारधाराको अपनाये, उसमें निरन्तर भजनका होना अनिवार्य है। भजन किये बिना केवल बातोंसे न तो संसारका सम्बन्ध छूटेगा, न भोगोंसे वैराग्य होगा। फिर भगवान्‌में प्रेम तो होगा ही कैसे? भजनके बिना ये सब केवल बातूनी ज्ञान बनकर रह जायँगे।

सन्तोंने भगवत्प्राप्तिके लिये जिन साधनोंका पथ-प्रदर्शकके रूपमें वर्णन किया है, उनमें निम्नांकित पाँच साधन प्रमुख हैं—

१-भगवन्नामका निरन्तर जप।
२-भगवान्‌के साथ अनन्य सम्बन्ध।
३-भगवत्कृपापर अटल विश्वास।
४-सर्वत्र भगवद्दर्शन।
५-सम्पूर्ण कामनाओंका त्याग।

इन पाँचों साधनोंपर अलग-अलग संक्षिप्त विचार प्रस्तुत है—

पहला साधन है—भगवन्नामका निरन्तर जप। भगवन्नामकी वास्तविक महिमाका तो वर्णन हो ही नहीं सकता। शास्त्रोंमें, सन्तोंकी वाणीमें भगवन्नामकी महिमाका जो वर्णन आता है, वह तो केवल कृतार्थ हृदयके उच्छ्वास-मात्र हैं। स्वयं भगवान् भी अपने नामकी महिमाका वर्णन नहीं कर सकते—*'रामु न सकहिं नाम गुन गाईं॥'* (रा०च०मा० १।२६।८)। श्रीमद्भागवत, श्रीरामचरितमानस, पुराणों आदिमें भगवन्नामकी अतुलनीय महिमा पढ़नेके बाद तो साधककी दृष्टि किसी अन्य साधनकी ओर जानी ही नहीं चाहिये। वस्तुतः इस एक ही साधनसे सम्पूर्ण साधनोंकी सिद्धि हो जाती है और इसमें कमी रहनेसे अन्य साधनोंकी सिद्धि कठिन है। भगवान् और भगवन्नाममें कोई भेद नहीं है। स्वयं भगवान् ही अपने नामके रूपमें प्रकट होते हैं।

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
नित्यशुद्धः पूर्णमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

'कृष्णनाम चिन्तामणि है,' सब अभिलषित फलोंको देनेवाला है। यह चैतन्यरसविग्रह है, नित्य है, शुद्ध है, पूर्ण है, मुक्त है तथा नाम और नामीकी अभिन्नताको व्यक्त करता है।'

भगवन्नामजपमें तीन बातें होनी चाहिये—जप निरन्तर हो, भगवान्‌के ध्यानसे युक्त हो तथा गुप्त हो। जिस प्रकार किसी फैक्ट्री-मिल आदिमें मशीनका बटन दबा देनेके बाद मशीन निरन्तर चलती रहती है, उसी प्रकार प्रातः जगनेसे लेकर रात्रिमें सोनेतक नाम-जप निरन्तर चलता रहना चाहिये। कामभरकी बातकर शेष समयमें काम-धन्धा करते हुए, चलते-फिरते हुए मन-ही-मन जिह्वासे निरन्तर नाम-जप करना चाहिये। वाणीका संयम करनेसे तथा अनावश्यक लोगोंसे मिलना-जुलना बन्द कर देनेसे निरन्तर नाम-जप करना बहुत सरल हो जाता है। निरन्तर नाम-जपके साथ भगवान्‌का ध्यान हो तो साधन बहुत उच्चकोटिका हो जाता है। किंतु यदि प्रारम्भमें भगवान्‌का ध्यान न हो तो भी कोई आपत्ति नहीं। निरन्तर नामजपके प्रतापसे आगे चलकर स्वतः ही भगवान्‌का ध्यान होने लगेगा। सन्तोंके अनुभवके अनुसार निरन्तर नामजप भगवत्प्राप्तिका अमोघ साधन है। महर्षि वेदव्यासजीने लिखा है—

'जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिः कलौ युगे।'

'जपात् सिद्धिः'—इस पदको तीन बार कहकर यह भाव व्यक्त किया है कि नामजपका साधन निःसन्देह सिद्धिप्रदायक है। महर्षि पतंजलि लिखते हैं—

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।'(योगदर्शन २। ४४)

नामजपसे इष्टदेव परमेश्वरके साक्षात् दर्शन होते हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

(रा०च०मा० १। २३। ८)

नामका निरूपण करके (नामके यथार्थ स्वरूप, महिमा, रहस्य और प्रभावको जानकर) नामका जतन करनेसे (श्रद्धापूर्वक नामजप करनेसे) वह ब्रह्म ऐसे प्रकट हो जाता है, जैसे रत्नको जाननेसे उसका मूल्य।

नामजपके बारेमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नामजप अत्यन्त गुप्त रहना चाहिये। घर-परिवारके लोगों, मित्रोंतकको भी पता नहीं लगने देना चाहिये कि यह भी कोई साधन करता है। नामजप जितना अधिक गुप्त रहेगा, उसका प्रभाव उतना ही अधिक बढ़ेगा। नामजप प्रकट कर देनेसे इसका प्रभाव कम हो जाता है। नामजपके बदलेमें किसी सांसारिक वस्तुकी चाहना करना तो ऐसा ही है जैसे किसी अमूल्य रत्नको देकर उसके बदलेमें कंकड़-पत्थर खरीद लेना। जिस नामजपसे भगवान् मिल जाते हैं, उससे सांसारिक सुखकी चाहना करना मूर्खता ही तो है।

प्रारम्भमें निरन्तर नामजप करना कठिन प्रतीत होनेपर भी इसके अभ्यासको छोड़ना नहीं चाहिये। धीरे-धीरे पापोंका नाश होनेपर नामजपमें स्वतः ही रस आने लगेगा और आगे चलकर तो नामजप छूटना मुश्किल हो जायगा—इसके रससे कभी तृप्ति ही नहीं होगी। हनुमान्‌जी महाराजने कहा है—

त्वन्नामजपतो राम न तृप्यते मनो मम।

हे राम! आपके नामका जप करते हुए मेरा मन कभी भी तृप्त नहीं होता है।

भगवान्‌का भजन करनेका, उनसे प्रेम करनेका देव-दुर्लभ अवसर तो इस मानव-जीवनमें ही है। यदि इस मानव-जीवनमें भजन नहीं करेंगे तो क्या पशु-पक्षी बननेपर करेंगे? कई युगोंके बाद केवल भगवान्‌की अपार कृपासे मिलनेवाले इस देव-दुर्लभ अवसरको गँवानेवालोंके लिये तो रोनेके सिवाय और कोई उपाय नहीं बचेगा—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

(रा०च०मा० ७। ४३)

दूसरा साधन है—भगवान्‌के साथ अनन्य सम्बन्ध। यह भक्तिका प्राण और भगवत्प्रेमका बीज है। इस साधनके बिना साधक कृतकृत्य नहीं हो सकता। बन्धनका मूल कारण सम्बन्धकी मान्यतामें है। यदि यह बात समझमें आ जाय तो काँटा निकल जाता है। इस संसारके साथ हमारा सम्बन्ध बड़ा ही दुःखदायी है। हमको जितने भी विभिन्न प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं, उनका मुख्य कारण इस संसारके साथ हमारा माना हुआ सम्बन्ध ही है। हम जबतक इस सम्बन्धको नहीं छोड़ेंगे, हमारे दुःखोंका अन्त कभी नहीं होगा। संसारके सभी सम्बन्धोंको तोड़कर केवल एकमात्र भगवान्‌के साथ ही अपना सम्बन्ध मानना साधनाकी नींव है। वस्तुतः हमारा वास्तविक सम्बन्ध केवल एक भगवान्‌के साथ ही है। हम केवल भगवान्‌के ही हैं एवं केवल भगवान् ही हमारे हैं। संसार न तो हमारा है न हम संसारके हैं। हम जहाँ-जहाँ जन्म लेते हैं, वहाँ-वहाँ नये-नये सम्बन्ध बनते जाते हैं एवं मृत्युके साथ

ही वे छूट जाते हैं किंतु भगवान् किसी भी जन्ममें, कहींपर भी हमसे नहीं छूटते; क्योंकि वे ही हमारे एकमात्र वास्तविक सच्चे सम्बन्धी हैं। भगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट कहा है—

'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'

(१५।७)

'इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है।'

दीर्घकालतक साधन-भजन करनेपर भी भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव नहीं होनेका मूल कारण यही है कि हमने संसारके साथ अपना सम्बन्ध तोड़कर एकमात्र भगवान्‌के साथ ही अपना अनन्य सम्बन्ध नहीं माना है। भगवान्‌के साथ अपना अनन्य सम्बन्ध मानना भगवत्प्रेम-प्रादुर्भावका रामबाण उपाय है। भगवान्‌को भी भक्तका अनन्यभाव सर्वाधिक प्रिय है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(रा०च०मा० ३।१०।८)

भगवान्‌से विमुखता ही हमारे दुःखोंका एकमात्र कारण है। भगवान्‌के सम्मुख होते ही करोड़ों जन्मोंके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(रा०च०मा० ५।४४।२)

तीसरा साधन है— भगवत्कृपापर अटल विश्वास। साधक जबतक अपने बलका सहारा लेता रहेगा, वह अपने साधनमें कभी भी सफल नहीं होगा। एक छोटा बालक अपने बलपर सीढ़ियाँ नहीं चढ़ सकता, किंतु यदि वह माताकी उँगली पकड़ ले तो माता उसे तत्काल ऊपर पहुँचा देती है। भगवान् कृपाके सागर—कृपाके विग्रह ही हैं। उनमें केवल कृपा-ही-कृपा भरी हुई है, वे केवल कृपाकी धातुसे ही बने हुए हैं। गोस्वामीजी महाराजने कितना सुन्दर लिखा है—

'है तुलसिहिं परतीति एक प्रभु-मूरति कृपामई है॥'

सम्पूर्ण जीवोंपर अनवरत कृपा करना भगवान्‌का सहज स्वभाव है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय—सभी परिस्थितियोंमें उनकी कृपा भरी रहती है। जब उनके पास कृपाके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु है ही नहीं तो वे उसको देंगे कहाँसे? उनकी कृपासे बड़े-बड़े पापियोंका उद्धार हो गया—इसके उदाहरण हमारे शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं। फिर हम उनकी कृपासे वंचित क्यों रहें? हम चाहे कैसे भी पापी, मूर्ख या अयोग्य ही क्यों न हों, भगवान्‌की कृपाका आश्रय लेकर भजन करनेसे अतिशीघ्र साधनाकी उच्चतम स्थितिपर पहुँच सकते हैं। जिनके भ्रूभंगमात्रसे विश्वकी उत्पत्ति-स्थिति-पालन होता है, उनकी कृपासे हमारी साधनाके सम्पूर्ण विघ्नोंका नाश हो जाना, भगवत्प्रेमकी प्राप्ति या उनके दर्शन हो जाना कौन-सी बड़ी बात है? भगवान्‌का स्वभाव बड़ा ही कोमल है एवं वे बिना ही कारण कृपा करते हैं। गोस्वामीजीने लिखा है—

कोमल चित अति दीनदयाला। कारन बिनु रघुनाथ कृपाला॥
गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

(रा०च०मा० ३।३३।१-३)

भगवान्‌का यह स्वभाव है कि वे अपने भक्तका पिछला इतिहास कभी नहीं देखते, केवल वर्तमानकी 'चाह' ही देखते हैं—

रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरति सय बार हिए की॥
जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी॥
ते भरतहि भेंटत सनमाने। राजसभाँ रघुबीर बखाने॥

(रा०च०मा० १।२९।५—८)

भगवान्‌ने जिस पापके कारण बालिको मारा था, वही पाप सुग्रीवने भी तो किया था। विभीषणने भी आगे चलकर वही पाप किया, किंतु भगवान्‌ने दोनोंके पापोंकी ओर देखातक नहीं, क्योंकि सुग्रीव तथा विभीषणने भगवान्‌की शरण ग्रहण कर ली थी। अपने भक्तोंके अपराधोंकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करना—यह भगवान्‌का सहज स्वभाव है। ऐसा कृपालु एवं प्रेमी इस विश्वमें भगवान्‌के अलावा और कौन हो सकता है? भरतजीने भगवान्‌के इसी कृपालु स्वभावको स्मरणकर कहा है—

जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जियँ भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥

(रा०च०मा० ७।१।५—७)

यदि भगवान् हमारे पापोंकी ओर ध्यान दें तो करोड़ों कल्पोंमें भी हमारा उद्धार नहीं हो सकता, किंतु भगवान् ऐसा नहीं करते। भगवान्‌के इसी कृपालु स्वभावके बलपर भगवत्प्राप्तिके सम्बन्धमें निःसंदिग्ध हो जाना एक बहुत बड़ा साधन है। 'मैं चाहे कैसा भी क्यों न होऊँ, भगवत्कृपाके बलपर मुझे भगवत्प्राप्ति अवश्य होगी'—यह दृढ़ निश्चय भगवत्प्राप्ति करा देता है। बालिके लिये स्वयं भगवान् कहते

हैं कि तू बड़ा पापी है, तुझे मारनेमें कोई पाप नहीं है, किंतु भगवान्‌की शरणमें जानेसे उसका भी उद्धार हो गया।

जिनको अपने साधनमें सन्देह है, भगवत्प्राप्तिके विषयमें सन्देह है—भगवान् मिलेंगे या नहीं, पता नहीं, मुझ-जैसे व्यक्तिको भगवान् कैसे मिल सकते हैं—ऐसी विचारधारा है, उनके साधनकी सिद्धि कभी नहीं हो सकती। भगवान्‌ने भी कहा है—**'संशयात्मा विनश्यति'** (गीता ४।४०)। संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है, जबकि भगवत्कृपापर दृढ़ विश्वास करनेवाला साधक सम्पूर्ण विघ्नोंसे पार हो जाता है। [क्रमशः]

त्यागका विवेक

ईश्वरकी प्राप्ति, परमात्माके प्रति निकटताका भाव और प्रभु-प्रेम मानवताका एक चिरंतन उद्देश्य रहा है। भक्ति और श्रद्धाके मार्गपर चलकर ही व्यक्ति भगवान्‌का आशीर्वाद पा सकता है।

इसी सन्दर्भमें धर्मने उस आचरण और विचारको महत्त्व दिया है, जो प्रभु स्वीकार करते हैं। सार्थकता उस कर्मकी होती है, जो स्वार्थसे ऊपर हो। त्याग ही वह प्रमुख साधन है, जिससे ईश्वर प्रसन्न होते हैं। मान्यता मात्र पूजाकी नहीं, बल्कि उस पवित्रताकी है, जो प्रेम-मार्गको सरल और सहज बनाती है। यदि मनुष्य वास्तवमें प्रभुका प्रेम और स्नेह प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिये निम्नांकित भावनाओं और कर्मोंका त्याग करना आवश्यक माना गया है—

१. चोरी और हिंसा-जैसे निषिद्ध क्रियाकलाप।
२. अपने सुख और अपनी सम्पत्तिके विस्तारसे प्रेरित दान या यज्ञ।
३. सम्मान और प्रतिष्ठाकी लालसा।
४. स्वार्थवश दूसरोंकी सेवा या सामग्रीकी याचना और उनका उपयोग।
५. ईश्वर-भक्तिमें आलस्य।
६. किसीके प्रति अनुचित ममता और आसक्ति।
७. दंभ और अहंकारकी भावना।

ऐसी विपरीत या नकारात्मक प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण रखना प्रत्येक मनुष्यके विवेककी सबसे बड़ी चुनौती होती है। वस्तुतः ये ऐसे कर्म हैं, जिनका त्याग करके ही हम अपनी साधनाको सरल और सफल बना पाते हैं।

आधुनिक समाजमें हमारे चारों ओर प्रतिदिन कुछ-न-कुछ ऐसा हो रहा है, जो शान्ति और प्रगतिका शत्रु है। अतः उन प्रवृत्तियों, कर्मों, भावनाओं और विचारोंके त्यागकी भी आवश्यकता है, जो हमें मानवतासे दूर करती हैं, प्रभुका प्रेम प्राप्त कर पानेमें पराजित कर देती हैं।

आप स्वयं अनुभव करेंगे कि निष्ठा, स्नेह और एकताकी पवित्रताके लिये एक संगठित प्रयासकी आवश्यकता पड़ती है। यह तभी सम्भव है जब हम वर्तमान आचार-विचारके प्रति सावधान रहें—

१. योग्यताको कुचलकर अयोग्यको ऊपर लानेकी चेष्टा।
२. अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दूसरोंकी सत्य भावनाओंकी उपेक्षा और उनकी अवमानना।
३. आत्म-प्रचार, आत्म-प्रशंसा और अनुचित सम्मान पानेकी भूख।
४. सर्वदा अपनेको महान् और अन्यको छोटा सिद्ध करनेका प्रयास।
५. कुतर्कके द्वारा हमेशा अपनी गलत बातको भी मनवा लेनेका हठ।
६. असीमित सम्पत्ति बटोरनेकी चाह।

ईश्वर-भक्तिका सर्वोत्तम माध्यम है निष्कपट भावसे कर्मोंकी पवित्रता। यह वस्तुतः विवेककी चुनौती होती है कि हमें क्या करना है, क्या नहीं करना है। हम मात्र अपने सुख, अपनी सुविधा और अपनी उपलब्धियोंकी बात न सोचें। जब हम दूसरोंको अपनी सेवाका सन्तोष दे पायें, तभी हम अपने प्रभुको प्रसन्न कर पायेंगे।

—डॉ० श्रीतारकेश्वरप्रसादजी मैतिन

साधकोंके प्रति—

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[वर्ष ८२, सं० १२ पृ०-सं० ९९३ से आगे]

गीताकी आज्ञा है—'**न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥**' (६।२५) 'कुछ भी चिन्तन न करे।' अतः संकल्प-विकल्पके साथ सम्बन्ध मत रखो, उनकी उपेक्षा करो।

मेरी ऐसी धुन है, ऐसी खोजकी प्रवृत्ति है कि जल्दी-से-जल्दी, सुगमतापूर्वक सबको कैसे भगवत्प्राप्ति हो जाय। पारमार्थिक मार्गमें भगवान्, सन्त-महात्मा, शास्त्र आदि सबकी सहायता प्राप्त होती है। इस मार्गमें घाटा या नुकसान होता ही नहीं। भगवान्ने समय, समझ, सामग्री और सामर्थ्य बहुत ज्यादा दी है, जिसके थोड़े-से उपयोगसे तत्त्वप्राप्ति हो सकती है।

× × × ×

एक देखनेवाला है, एक दीखनेवाला है। दीखनेवाला तो दीखता है, पर देखनेवाला नहीं दीखता। देखनेवाला 'अहम्' है, शेष सब दीखनेवाला है। 'अहम्' ने ही संसारको धारण कर रखा है। हमारा वास्तविक स्वरूप अहम् नहीं है। 'अहम्' का भी भान होता है। तत्त्व ज्यों-का-त्यों है, उसमें द्रष्टापना नहीं है। वही हमारा स्वरूप है।

'**नासतो विद्यते भावः**'—यह दीखनेवाला है और '**नाभावो विद्यते सतः**'—यह देखनेवाला है।

× × × ×

सांसारिक किसी कार्यमें स्वतन्त्रता नहीं है और परमात्माकी प्राप्तिमें परतन्त्रता नहीं है। किसीके सहारेकी जरूरत नहीं है, केवल परमात्माके सहारेकी जरूरत है। सन्त, धर्म, शास्त्र आदि सभी हमसे सहमत हैं, हमारी मददके लिये तैयार हैं। परमात्माकी प्राप्ति हम अकेले कर सकते हैं। परंतु सांसारिक (व्यापार आदि) कार्य हम अकेले नहीं कर सकते। 'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—इसमें किसकी जरूरत है?

हमें न जीनेसे मतलब है, न मरनेसे मतलब है। भगवान्को गरज होगी तो जीता रखेंगे—

गिरह गाँठ नहिं बाँधते, जब देवे तब खाहिं।
गोबिंद तिनके पाछे फिरें, मत भूखे रह जाहिं॥

हम भगवान्का चिन्तन करते हैं तो भगवान् हमारा चिन्तन करते हैं, इसमें बीचमें बाधा देनेवाला कौन है? भगवान्ने कहा है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' (गीता ४।११)। भगवान्को भक्तोंकी रक्षा, सहायता, पालन करनेमें बहुत आनन्द आता है। वे स्मरण करनेमात्रसे प्रसन्न हो जाते हैं—'**अच्युतः स्मृतिमात्रेण**'। इसमें खर्चा क्या है?

ईश्वर 'स्व' है, 'पर' नहीं। अतः उसकी परतन्त्रता नहीं होती। भक्ति स्वतन्त्र साधन है—'***भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥***' (मानस, उत्तर० ४५।३)। सत्संग भी भगवान् देते हैं—'***जब द्रवै दीनदयालु राघव, साधु-संगति पाइये।***' (विनय० १३६।१०)

× × × ×

सत्संगसे शान्ति मिलती है, तभी इतने लोग इकट्ठे होते हैं। सत्संगमें बहुत गहरी बातें मिलती हैं। यह नाटक, सिनेमाकी तरह नहीं है।

'**वासुदेवः सर्वम्**' सीखनेकी चीज नहीं है, प्रत्युत अनुभवकी चीज है।

'मैं हूँ'—इसमें 'मैं' असत्य है और 'हूँ' सत्य है। 'मैं'-पनका तो सुषुप्तिमें अभाव होता है, पर अपनी सत्ताका अभाव नहीं होता—यह सबके अनुभवकी बात है। जो हरदम रहती है, वह सत्ता ही हमारा स्वरूप है। जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाओंके भाव और अभावका अनुभव करनेवाला तो एक ही है।

× × × ×

परमात्मामें कोई विषमता है ही नहीं—'***सब पर मोहि बराबरि दाया***' (मानस, उत्तर० ८७।४)। वे समान रूपसे सर्वत्र व्यापक हैं। माँकी तरह वे सबके लिये पूरे-के-पूरे हैं। भगवान् मेरे हैं—इस बातसे बड़ा आनन्द आना चाहिये। संसारको अपना मान लिया तो यह अपनापन टिकेगा नहीं। प्रभुको अपना मानकर पुकारो। भगवान् तो सदासे ही हमारे हैं, पर इधर ख्याल नहीं है।

जैसे भगवान्के लिये भक्त लालायित रहते हैं, ऐसे

ही भक्तके लिये भगवान् लालायित रहते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'** (गीता ४।११)

मीराबाईने कहा है—*'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।'* वास्तवमें दूसरा कोई है ही नहीं।

× × × ×

जिसे भगवान्‌के होनेका विश्वास हो जाय, वह निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। भगवान् हैं, वे मिलते हैं और मेरेको भी मिल सकते हैं। ऐसे ही तत्त्वज्ञान भी हमारेको हो सकता है। कारण कि भगवान् और बोध स्वत:सिद्ध हैं।

नित्यप्राप्तको प्राप्त करना है और नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति करनी है—यह बात साधकके लिये बड़े कामकी है।

× × × ×

मनुष्य किसी-न-किसीका सहारा लेता है, यह उसका स्वभाव है, आदत है। इससे सिद्ध होता है कि सहारा लेना आवश्यक है और सहारा लेनेयोग्य कोई है। परंतु यह नाशवान्‌का सहारा लेता है, तभी दु:ख पा रहा है। उसको इसका पता नहीं है कि किसका सहारा लेना है।

संसारका सम्बन्ध केवल कामनासे है। कामना न हो तो संसारका सम्बन्ध है ही नहीं।

मन लगानेवाला योगभ्रष्ट होता है—**'योगाच्चलितमानसः'** (गीता ६।३७)। स्वयं योगभ्रष्ट होता ही नहीं।

× × × ×

परमात्मतत्त्वमें क्रिया और पदार्थ—दोनों ही नहीं हैं। 'करना' भी क्रिया है और 'न करना' भी क्रिया है। करना और न करना, पदार्थ और पदार्थका अभाव—दोनोंसे हमारा कोई मतलब न हो। परमात्माका भी चिन्तन न हो—**'न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'** (गीता ६।२५)। गंगाजी हैं—इसका चिन्तन क्या करना? चिन्तनरहित होनेका सुख भी नहीं लेना है। न करना है, न पाना है। कुछ कर लें, कुछ मिल जाय—दोनोंसे उपराम होना है।

× × × ×

यह सभी सन्तोंका अनुभव है कि सब कुछ भगवान् ही हैं। सब कुछ तू-ही-तू है। इसका ज्ञान कैसे हो? किसीको बुरा न समझें, किसीकी बुराई न करें और किसीका भी बुरा न चाहें।

कहीं बुराई दीखे तो समझें कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। जैसा स्वरूप, वैसी लीला। बर्ताव सावधानीसे करें, क्योंकि भगवान्‌की आज्ञा है—**'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** (गीता २।४७)। परंतु भीतरसे किसीको बुरा न समझें। जैसे स्नानके समय साबुन लगाये चेहरेको दर्पणमें देखते हैं तो भद्दा रूप दिखायी पड़ता है, पर मनमें अपना रूप वैसा नहीं समझते। ऐसे ही सबके भीतर साक्षात् परमात्मा हैं, पर ऊपरसे अनेक तरहके वेष हैं। तात्पर्य है कि बाहरसे सावधानी रखो, पर भीतरसे बुरा न समझो।

किसीकी बुराई न करें। व्यवहार यथायोग्य करते हुए भी भीतरसे सबको भगवान् ही समझें। भीष्मजी कृष्णको भगवान्-रूपसे जानते थे, पर युद्धके समय वे उनकी पूजा अपने बाणोंसे करते हैं! जैसा रूप, वैसी पूजा।

× × × ×

मनुष्यके भीतर किसीका सहारा (आश्रय) लेनेकी प्रवृत्ति भी होती है और स्वतन्त्र रहनेकी प्रवृत्ति भी होती है। सहारा लेनेकी प्रवृत्तिवालोंके लिये शरणागति सर्वश्रेष्ठ है। कारण कि जीव जिसका अंश है, उसीका आश्रय लेनेसे काम बनेगा। शरणागतिमें परतन्त्रता नहीं है, प्रत्युत महान् स्वतन्त्रता है।

ऊपरसे भरे हुए साधनसे लाभ नहीं होता। वास्तवमें हम क्या चाहते हैं—यह जानना चाहिये। इसको जाननेवाले बहुत कम हैं।

मैं, तू, यह तथा वह—सबमें एक परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है। एक परमात्माके सिवाय कुछ हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं।

× × × ×

शरीरको संसारसे अलग मानना गलती है। अपनेको सांसारिक वस्तुओंका मालिक मानते हैं, पर हो जाते हैं गुलाम। वस्तुओंको संसारकी सेवामें लगाना ईमानदारी है। अपने लिये जप, तप आदि करनेवालेका नाम हिरण्याक्षकी सूचीमें लिखा जायगा। कर्म संसारके लिये होगा और योग परमात्माके साथ होगा। कर्मयोग भी करणनिरपेक्ष साधन है।

संसारकी सब वस्तुएँ मिली हुई हैं और बिछुड़नेवाली हैं। उनको अपना और अपने लिये मानना बेईमानी है। बेईमानीको छोड़नेका नाम 'मुक्ति' है।

संसारके लिये उपयोगी होना 'कर्मयोग', अपने लिये उपयोगी होना 'ज्ञानयोग' और भगवान्‌के लिये उपयोगी होना 'भक्तियोग' है। [**क्रमशः**]

नाम-साधना

(समर्थ सद्गुरु श्रीब्रह्मचैतन्यजी महाराज गोंदवलेकर)

नाम ठीक परमात्मस्वरूप ही है

नाम यानी भगवान्‌का नाम। साधनकी दृष्टिसे भगवान्‌के भिन्न-भिन्न नामोंमें परस्पर कोई भेद नहीं है। नाम जीव और शिवके बीचकी कड़ी है। नाम साधन है और नाम साध्य भी है। नाम सगुण है और निर्गुण भी है। नामका आरम्भ सगुणसे है तो अन्त निर्गुणमें है। आरम्भ सगुणसे है यह कहनेका कारण यह है कि भगवान् मूलत: निर्गुण और निराकार हैं, वे जब सगुण हुए तभी उनके नाम और रूप बने। बादमें जब सगुणरूप तिरोहित हो गया तब भी नाम बच ही रहा, अत: वे निर्गुण भी हैं। सगुण-भक्ति हो या निर्गुण-भक्ति, दोनोंके लिये नाम ही आधार है। नाम सत्संगकी नींव है और शिखर भी है। नाम हमारी वृत्ति और भगवान्‌को जोड़नेवाली शृंखला है। विवाहके बाद पत्नी जैसे अपने पतिके साथ एकरूप हो जाती है, वैसे ही वृत्तिका नामसे विवाह होकर उसे नामरूप बन जाना चाहिये। नाम अत्यन्त सूक्ष्म है और वृत्ति भी सूक्ष्म है, अत: नाम जपनेसे वृत्तिमें सुधार होगा, वृत्तिमें सुधार होनेसे चित्त शान्त होगा, चित्त शान्त होनेपर निष्ठा निर्मित होगी। इन सबका भावार्थ एक ही है।

अन्नमें अपना एक स्वाद होता है। हम उसमें अपनी मिठास और अपनी रुचिके व्यंजन मिलाकर खाते हैं, किंतु नाममें अपना कोई स्वाद नहीं होता। उसमें हमें ही अपनी मिठास डालकर जपना चाहिये। हम उसमें जितनी अधिक मिठास डालेंगे, उतना ही वह हमें अधिक मीठा लगेगा। पंढरपुर जानेके अनेक रास्ते हैं, किंतु अन्तमें सबको बारी-बारीसे जाकर ही भगवान्‌के दर्शन करने पड़ते हैं। इसी प्रकार अन्य साधन चाहे जो करो फिर भी नाम जपनेके साधनसे ही आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है। हम नाम जपें, उसे हम अपने कानोंसे सुनें और उसे जपते-जपते उसमें अपनेको भूल जायँ, यही नाम-साधना है, इसीके अन्तर्गत आनन्दका मार्ग है।

जैसे हमारा अपनापन हमारे नाममें है, वैसे ही भगवान्‌की भगवत्-सत्ता उनके नाममें है। हम आज जो नाम जपते हैं, वही नाम अन्ततक बना रहता है, किंतु हमारी देह-बुद्धि जैसे-जैसे कम होती जाती है, वैसे-वैसे नाम अधिकाधिक व्यापक और अर्थगर्भ बनता जाता है और अन्तमें ऐसा अनुभव होता है कि नाम परमात्मस्वरूप ही है। पानी जैसे शरीरके लिये जीवन है, वैसे ही नाम मनके लिये 'जीवन' बन जाना चाहिये। अन्तमें आखिरी क्षणको हमारे मुँहसे भगवान्‌का नाम ही निकलना चाहिये। नाम जपते-जपते ही हमारी अन्तिम साँस बन्द होनी चाहिये।

नाम-जप कबतक किया जाय

नाम-जप कबतक किया जाय? जबतक अपनी साँस चल रही है या अपनी स्मृति है, तबतक नामस्मरण किया जाय। हम आमरण साँस लेते हैं, वैसे ही नामस्मरणका है। यदि सही कहा जाय तो जैसे साँस रुकती है और आदमीकी मृत्यु होती है, वैसे ही नामस्मरणके सिवाय जीवन मृत्यु-सा लगना चाहिये। जीवनके अन्तिम क्षणतक अर्थात् 'मैं' के अहंकारकी मृत्युतक नामस्मरण करते ही रहना चाहिये। अन्तमें 'मैं' मिट जाता है और नामस्मरण ही बचता है। नामस्मरण कभी पूर्ण नहीं होता। कहा जाता है कि मुक्ति प्राप्त हुई तो जीवन सफल होता है, किंतु मुक्तिके बाद भी कुछ कर्तव्य बचता है, तो वह है नामस्मरण ही।

आदमीको बेहोशीकी दवा जब देते हैं तो वह बेहोश हुआ है या नहीं, यह जाननेके लिये उसे गिनती गिननेको कहा जाता है। गिनती करते-करते जब वह रुक जाता है तो माना जाता है कि वह बेहोश हुआ है। वैसे ही नाम जपते-जपते 'मैं नाम जप रहा हूँ' का विस्मरण होता है, तभी नामस्मरणमें विलीन आदमीका पर्यवसान 'एकान्त' में होता है। एकान्तका मतलब है, नाम जपनेवाला जो मैं एक हूँ, उसका भी अन्त होना। अर्थात् देह-बुद्धिकी विस्मृति होना, देह-बुद्धिसे पार होना। नाम जपते-जपते ऐसी स्थिति प्राप्त होती है तो यह प्रश्न ही नहीं बनता कि साधकका चित्त भगवत्-स्मरणमें है या नहीं। निद्रा-नाशकी बीमारी जब

होती है तब नींद आनेतक दवा लेते हैं, वैसे ही हमें नामस्मरणका स्वाभाविक सन्तोष प्राप्त होनेतक नाम जपना चाहिये। नाम उपाधिरहित है। जबतक हम भी उपाधिरहित नहीं होते, तबतक नामस्मरणके प्रति हमारा प्रेम नहीं जगेगा। नामस्मरणके कारण भगवान्‌की समीपता प्राप्त होती है। तब भगवत्कृपा होनेमें देरी नहीं लगती। सच तो यह है कि जिसपर भगवत्कृपा होती है, उसीके मुँहमें रामनाम आता है।

क्या नाम-जपकी संख्या टाँककर रखनी चाहिये? कुछ विशिष्ट संख्यातक जप करनेका संकल्प किया हो, या प्रतिदिन कम-से-कम कुछ संख्यातक जप करनेका तय किया हो तो जपकी संख्या लिख रखना जरूरी है। जप करनेकी आदत पड़नेकी दृष्टिसे और नियमानुसार निर्धारित जप किये बिना दिन न बीतनेकी दृष्टिसे भी जपकी संख्या लिख रखना आवश्यक है, किंतु यह करते समय एक बातसे सावधान रहना चाहिये—वह बात है कि नियमानुसार जप करनेसे जप-संख्या पूर्ण हो गयी तो कलतक हमारा नामस्मरणसे कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसी भावनाका निर्माण होनेकी सम्भावना है, अतः ऐसी भावनासे बचना चाहिये और प्रतिदिनकी नाम-जपकी संख्या पूर्ण होनेपर भी, जितना बन सके, उतना नाम-जप जारी रखना चाहिये, उसकी आदत डालनी चाहिये।

नाम किस ढंगसे लिया जाय

नाम-जप किस प्रकार करूँ—यह पूछना, पेड़ा कैसे खाऊँ, यह पूछनेके समान है। पेड़ा किसी भी प्रकारसे खानेपर मीठा ही लगता है, वैसे ही नामस्मरण किसी भी प्रकारसे करनेपर असर करता ही है। जिसने कभी पेड़ा खाया है, वह पेड़ा कैसे खाऊँ यह नहीं पूछेगा। वैसे ही जिसने कभी नामस्मरण किया है, वह यह कभी नहीं पूछेगा कि नाम-जप कैसे करूँ? जब बीज बोया जाता है, तब वह सीधा है या उलटा है, यह नहीं देखा जाता। जब बीज भूमिमें डाला जाता है तब बीजकी नोकसे जो अंकुर फूटता है, वह अपने आप भूमिसे ऊपर आता है। बीज अपनी नोक ऊपरकी ओर या नीचेकी ओर है, यह नहीं देखता। जब अंकुर फूटकर ऊपर जाता है तो मोड़ लेकर ऊपर ही आता है, वैसे ही नामस्मरण किसी भी ढंगसे करनेपर नाम जपनेवालेकी योग्य दिशासे ही प्रगति होगी। अतः नाम जपना कभी नहीं छोड़ना चाहिये।

नाम जपते समय किस प्रकार बैठा जाय या किस प्रकारका आसन हो? यह प्रश्न वैसा ही है जैसे साँस लेते समय किस प्रकारकी बैठक हो, यह पूछना। मान लो, किसीको दमेकी बीमारी हो, तो वह व्यक्ति क्या करता है? वह ऐसे ढंगसे बैठने या लेटनेका प्रयत्न करता है, जिससे उसकी साँस लेनेकी क्रिया सहज रीतिसे, बिना पीड़ासे, सुविधासे हो। यही उसका ध्येय होता है; वैसे ही अपना ध्येय भी यही होना चाहिये कि अखण्डरूपसे नाम-जप कैसे चालू रहे। अतः अपना आसन भी ऐसा हो, जिससे नाम जपनेमें बाधा न पहुँचे। वास्तवमें आसन तो ऐसा हो, जिससे नामस्मरणमें सहायता ही हो। आसनके बारेमें हमें आग्रही नहीं होना चाहिये। मान लो कि पद्मासन ग्रहणकर हमने नामस्मरण करना प्रारम्भ कर दिया और कुछ समयके बाद पीठमें दर्द होने लगा तो हमारा ध्यान नामस्मरणकी अपेक्षा पीठकी पीड़ाकी ओर ही लगा रहेगा। वस्तुतः नामस्मरण करते-करते हम देहभावनाको भूलना चाहते हैं, लेकिन परिणाम उलटा यह होगा कि देहभावनाकी विस्मृतिके बदले देहभावना प्रबल होगी। अतः नामस्मरणमें खण्ड न पड़नेके अपने ध्येयको दृढ़ रखकर अपनी-अपनी शारीरिक शक्तिका अन्दाजा लगाकर, सुखदायक आसन निर्धारित करना चाहिये। भगवन्नामस्मरणके लिये कोई भी शारीरिक बंधन नहीं है। यही तो नामस्मरणकी महत्ता और श्रेष्ठता है। मनुष्यको जीवनकी किसी भी अवस्थामें भगवान्‌का स्मरण निरन्तर रखनेके लिये एकमेव साधन है—नामस्मरण। किंतु देह-बुद्धि ऐसी विचित्र है कि हम उपाधिरहित नामसे कुछ-न-कुछ उपाधि या बन्धन जोड़ देते हैं और उपाधिपर नामस्मरण करनेकी बात अवलम्बित कर देते हैं, ऐसा करना अनुचित है। उपाधियाँ निश्चय ही किसी-न-किसी प्रकारका सुख-दुःख निर्माण करेंगी, लेकिन नामस्मरण किसी प्रकारकी उपाधिका तो निर्माण करेगा ही नहीं; बल्कि आनन्दका ही निर्माण करेगा।

[संग्राहक—श्री गो० सी० गोखले]

संत-उद्बोधन

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

मेरे निजस्वरूप परम प्रिय साधक महानुभाव! सच बात तो यह है कि जिसको अमरत्वकी अभिलाषा होती है, उसीको अमरत्व प्राप्त होता है। मानवजीवन दो प्रकारकी इच्छाओंका समूह है, भोगकी चाह और अमरत्वकी अभिलाषा। भोगकी चाहके लिये शरीर आदि मिले हैं, परंतु अमरत्वकी अभिलाषाके लिये किसी वस्तु, व्यक्ति आदिकी आवश्यकता नहीं होती। जिस कालमें अमरत्वकी अभिलाषा पूर्णरूपसे जाग्रत् हो जाती है, उसी समय भोगकी चाह मिट जाती है। फिर अमरत्वकी अभिलाषा स्वत: पूरी हो जाती है।

भोगकी चाह मिटते ही इन्द्रियाँ अविषय हो जाती हैं। फिर मन निर्विकल्प हो जाता है और बुद्धि अपने अधिष्ठानमें विलीन हो जाती है। यही योग है। इस योगसे वह सामर्थ्य आती है, जिससे मानव कर्तव्य-कर्ममें प्रवृत्त होता है अर्थात् जो करना चाहिये, वह स्वत: होने लगता है और जो नहीं करना चाहिये, उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती।

अपने साधनके प्रति यह आवश्यक है कि वह अपने लिये रुचिकर हो। हाँ, यह अवश्य है कि साधन रुचिकर होते हुए भी विवेक-विरोधी न हो; क्योंकि जो रुचि विवेक-विरोधी होती है, वह भोग है, साधन नहीं। असाधनके रूपमें साधन करना साधन नहीं है, अपितु असाधन ही है, जो वास्तवमें त्याज्य है। वस्तु, व्यक्ति आदिमें सत्यता और सुन्दरता रुचिकर हो सकती है, किंतु वह रुचि विवेक-विरोधी है; क्योंकि कोई भी वस्तु ऐसी हो ही नहीं सकती, जिसकी सुन्दरता नित्य हो, जिसमें मलीनता न हो और जो अविनाशी हो तथा जिससे नित्य सम्बन्ध सुरक्षित रह सके। ऐसी स्थितिमें वस्तुओंका सदुपयोग और व्यक्तियोंकी सेवा साधन हो सकता है, उनकी ममता और उनका भोग साधन नहीं हो सकता। अत: योग्यता, ईमानदारी, परिश्रमपूर्वक उपयोगी वस्तुओंका उत्पादन तथा उनका सदुपयोग एवं निर्मोहतापूर्वक व्यक्तियोंकी सेवा करनेकी रुचिमें निज विवेकका विरोध नहीं है।

वह साधन भी साधकके लिये स्वाभाविक तथा हितकर नहीं हो सकता, जो साधन उसकी परिस्थितिके प्रतिकूल हो; क्योंकि परिस्थितिके प्रतिकूल साधन कभी क्रियात्मक नहीं हो सकता। यह नियम है कि सक्रिय साधनके बिना करनेके रागका नाश सम्भव नहीं है, जिसके हुए बिना साधन सार्थक सिद्ध नहीं होगा और न उस साधनकी अभिव्यक्ति होती है, जो स्वभावसे ही निरन्तर होता रहे, जिसमें करनेकी गन्ध न हो। अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वह साधन साधन नहीं है, जो प्राप्त परिस्थितिके प्रतिकूल हो।

समस्त साधनोंका आरम्भ होता है, सुखकी आशासे रहित की हुई सेवासे; क्योंकि यह कर्तव्य-विज्ञान है। और समस्त साधनोंका अन्त होता है प्रीतिकी अभिव्यक्तिमें; क्योंकि प्रीतिसे ही अपने साध्यको रस मिलता है। इस दृष्टिसे सुखकी आशाका त्याग और प्रेमास्पदको रस देनेकी उत्कट लालसामें ही साधनतत्त्वसे अभिन्नता हो सकती है, जिसके होते ही साधनमें स्वाभाविकता आ जाती है, जो सभी साधकोंको अभीष्ट है।

साधनकी लालसा ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों असाधनजनित कामनाएँ अपने आप मिटती जाती हैं। ज्यों-ज्यों असाधनजनित कामनाएँ मिटती जाती हैं, त्यों-त्यों साधनकी लालसा वर्तमान जीवनकी वस्तु होती जाती है। यह नियम है कि जो लालसा वर्तमान जीवनसे सम्बन्ध रखती है, उसकी पूर्ति स्वत: हो जाती है। साधनकी लालसाकी पूर्तिमें ही साधकका अस्तित्व साधन होकर साधनतत्त्वसे अभिन्न हो जाता है। साधन साधनतत्त्वके समान ही नित्यतत्त्व है। इस कारण प्रत्येक साधकका साधन-सम्पन्न होना अनिवार्य है।

आप सभी महानुभाव साधन-सम्पन्न हो साधनतत्त्वसे अभिन्न हो जायँ, इसी सद्भावनाके साथ! ॐ आनन्द!

सफल जीवनके लिये उपयोगी बातें

(ठा० श्रीनारायणसिंहजी)

'मनको भगवान्‌के प्रति अर्पण करना सीखें'—जैसे एक आदमीने अपना घोड़ा किसीको बेच दिया। घोड़ा खराब था, इसलिये वह लौटकर पुराने मालिकके पास आ गया। अब उस आदमीका यह कर्तव्य है कि जिसको घोड़ा बेचा था, उसके पास वह घोड़ा भेज दे या फिर उसके पास खबर भिजवा दे कि तुम्हारा घोड़ा मेरे पास आ गया है, उसे ले जाओ। यदि वह ऐसा नहीं करता है और घोड़ा बाँधकर उसे उपयोगमें लेता है तो वह बहुत बड़ा बेईमान है। ठीक इसी प्रकार यह जो मनरूपी घोड़ा है, जब हम इसे भगवान्‌को अर्पण कर देते हैं और यदि यह वहाँसे लौटकर फिर हमारे पास आ जाता है तो हमारा कर्तव्य है कि हम इस मनको पुनः भगवान्‌के पास भेजें। यदि न भेज सकें तो भगवान्‌से प्रार्थना करें कि भगवन्! यह मनरूपी घोड़ा हमने आपको दे दिया था और यह वापस हमारे पास आ गया है, इसलिये आप इसे फिर ले जायँ। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं और उस मनरूपी घोड़ेको किसी दूसरेको अर्पित करते हैं तो बहुत बड़ी बेईमानी है।

'काम, क्रोध और लोभ'—इन तीनोंको 'गीता' में नरकका दरवाजा बतलाया गया है—'**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥**' (१६।२१) नरकके तीन द्वार हैं—'काम, क्रोध और लोभ'। प्रत्येक बुद्धिमान् व्यक्तिको चाहिये कि वह इन्हें त्याग दे; क्योंकि इनसे आत्माका पतन होता है।

जैसे, थोड़ा-सा दाग सुन्दर रूपको नष्ट कर देता है, वैसे ही थोड़े-से लोभका भाव गुणवानोंके गुणोंको चौपट कर देता है।

मनुष्यमें १५ अनर्थ धनके कारण ही माने गये हैं—

१. चोरी, २. हिंसा, ३. झूठ, ४. दम्भ, ५. काम, ६. क्रोध, ७. गर्व, ८. अहंकार, ९. भेदबुद्धि, १०. वैर, ११. अविश्वास, १२. स्पर्द्धा, १३. व्यभिचार, १४. जूआ और १५. शराब। (श्रीमद्भागवत ११।२३।१७-१९) अर्थात् १. चोरी—धन चोरीसे आता है। २. हिंसा—धन दूसरोंका दिल दुःखाकर आता है। ३. झूठ—धन झूठ बोलनेसे आता है। ४. दम्भ—धन बनावट करनेसे आता है। ५. काम—धन जब काम अर्थात् कामना होती है, तब आता है। ६. क्रोध—धनके मिलनेमें यदि रुकावट होती है तो क्रोध आता है। ७. गर्व—धन यदि मिल जाय तो अभिमान होता है। ८. अहंकार—धन यदि बहुत हो जाय तो अहंकार छा जाता है। ९. भेदबुद्धि—धनके कारण भाई-भाईमें भेदबुद्धि अर्थात् फूट पड़ जाती है। १०. वैर—धनके कारण झगड़ा-वैर हो जाता है। ११. अविश्वास—धनके कारण कभी-कभी एक-दूसरेपर विश्वास नहीं रहता है। १२. स्पर्द्धा—धनके कारण स्पर्द्धा—होड़ भी लग जाती है। १३. व्यभिचार—धनसे व्यभिचार भी बढ़ता है। १४. जूआ—धनके कारण जूआ भी खेला जाता है। १५. शराब—धनसे शराब-जैसे भयंकर दोष भी आ जाते हैं। तो, ये सब जो अनर्थ हैं, इनका मुख्य कारण 'धन' ही है। इसलिये जो सचमुच अपना कल्याण चाहता है, उसको चाहिये कि वह इस 'अर्थ' नामधारी अनर्थको दूरसे ही त्याग दे।

संसारमें ऐसे लोग बहुत हैं, जो युद्धमें पीठ न दिखाकर अपने प्राणोंका बलिदान कर देते हैं—किंतु ऐसे लोग बहुत कम हैं, जो सत्पात्रके मिलनेपर उसे श्रद्धासे दान करते हैं।

विधाताने मृत्युसे बचनेका कोई उपाय ही नहीं बताया है। इसलिये, जब आखिर एक दिन मरना ही है तो ऐसे ढंगसे मरो कि संसारमें यश भी हो और परमात्माकी प्राप्ति भी हो। जैसे, जब आदमी काम करते-करते थक जाता है और वह विश्राम कर लेता है, तब उसमें फिरसे काम करनेकी शक्ति आ जाती है। बोलते-बोलते थक जाता है तो चुप होनेसे उसमें फिरसे बोलनेकी शक्ति आ जाती है। ऐसे ही जब आदमी जीते-जीते मर जाता है तो उसमें फिरसे जीनेकी शक्ति आ जाती है। इसलिये मरनेसे नहीं घबड़ाना चाहिये।

जो भूत-प्रेतोंकी उपासना करता है, वह मरनेके बाद उन्हीं भूत-प्रेतोंकी योनियोंमें जाता है। इसलिये भूत-प्रेतोंकी उपासना नहीं करनी चाहिये। हाँ, पारमार्थिक रूपसे भूत-

प्रेतोंके उद्धारके लिये उनका श्राद्ध-तर्पण आदि कर सकते हैं; क्योंकि सन्त-महात्माओंके द्वारा भी अनेक भूत-प्रेतोंका उद्धार हुआ है, जैसे गोकर्णने धुन्धुकारीका उद्धार किया था। लेकिन बहुतसे लोग उन भूत-प्रेतोंको इष्ट मानकर उनकी पूजा करने लगते हैं—ऐसा कदापि नहीं करना चाहिये।

संसारमें असफलता तो कई बार मिलती ही है, इसलिये उससे निराश नहीं होना चाहिये। बल्कि बार-बार प्रयत्न करना चाहिये, जिससे सफलता मिल ही जाती है।

जिस प्रकार बहती हुई नदीके वेगसे बालूके कण एक-दूसरेसे मिलते और बिछुड़ते हैं, उसी प्रकार इस संसाररूपी नदीमें समयके प्रवाहसे प्राणियोंका मिलना और बिछुड़ना होता है। इसलिये किसीके मिलने-बिछुड़ने अर्थात् जन्म लेने और मर जानेपर बुद्धिमान् पुरुषको विशेष हर्ष-शोक नहीं करना चाहिये।

संसारके जितने भी प्राणी वर्तमानमें हमारे साथ हैं, वे सब जन्मके पहले हमारे साथ नहीं थे और मृत्युके बाद भी साथ नहीं रहेंगे। इससे यह सिद्ध होता है कि इस समय भी उनका कोई अस्तित्व नहीं है; क्योंकि सत्य वस्तु तो हर समय एक-सी रहती है। इसलिये सत्य वस्तु अर्थात् परमात्माका सदा चिन्तन करना चाहिये।

विभिन्न जन्मोंमें सभी एक-दूसरेके माता-पिता, भाई-बन्धु और शत्रु-मित्र होते रहते हैं। जैसे, कोई चीज बाजारमें इस दुकानसे उस दुकानपर चली जाती है, वैसे ही जीवात्मा अपने कर्मके अनुसार कभी इस घरसे उस घरमें, कभी इस योनिसे उस योनिमें घूमता रहता है। तो, ये सारे रिश्ते शरीरतक ही सीमित हैं—जीवात्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैसे, नदीमें बहते हुए तिनके सदा एक साथ और एक स्थानपर नहीं रहते, वैसे ही सगे-सम्बन्धी और प्रेमीजन एक स्थानपर साथ-साथ नहीं रह सकते; क्योंकि सबके प्रारब्ध-कर्म अलग-अलग होते हैं।

इस संसारमें कभी भी, कहीं भी, कोई भी, किसीके साथ हमेशा नहीं रह सकता। जितने भी एक-दूसरेसे जुड़े हुए हैं, उन्हें उनसे एक-न-एक दिन अवश्य बिछुड़ना पड़ेगा। चाहे स्त्री हो, चाहे पुत्र हो, चाहे धन हो, चाहे मकान हो और चाहे अपना शरीर ही हो—इन सबको छोड़कर जाना ही पड़ेगा। अतः यह जीव अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरकर जाता है। करनी-धरनी, पाप-पुण्यका फल भी अकेला ही भोगता है। इसलिये अधर्मकी कमाईसे कभी भी अपना और अपने परिवारका पालन-पोषण नहीं करना चाहिये, नहीं तो पापोंकी गठरी अकेले ही सिरपर लादकर घोर नरकोंमें गिरना पड़ेगा।

बुद्धिमान् गृहस्थको विशेषरूपसे यह भी समझ लेना चाहिये कि संसारके सभी लोग प्याऊपर राहगीरोंकी भाँति ही इकट्ठे हुए हैं। इन सबको अपने-अपने रास्तेपर अलग-अलग जाना है। जैसे स्वप्नका सम्बन्ध केवल नींद खुलनेतक ही रहता है, वैसे ही सारे रिश्ते-नातोंका सम्बन्ध मात्र शरीर रहनेतक ही है। फिर तो कौन किसको पूछता है? इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको एक अतिथिकी भाँति अनासक्त भावसे इस घर-गृहस्थीमें रहना चाहिये।

बुद्धिमान् पुरुषको यह भी अच्छी तरहसे जान लेना चाहिये कि जैसे इस लोककी समस्त भोग-सामग्री नाशवान् है, वैसे ही स्वर्गके भोग भी नाशवान् हैं। इसलिये उसे कुटुम्ब आदिमें एवं भोग-वस्तुओंमें फँसकर परमात्माको नहीं भूलना चाहिये।

संशयका उत्पन्न होना हानिकारक नहीं है, बल्कि संशयको बनाये रखना और उसे दूर करनेकी चेष्टा न करना हानिकारक है; क्योंकि संशय यदि दूर न हुआ तो वह संशय ही 'सिद्धान्त' बन जाता है। अतः संशय दूर न होनेपर वह व्यक्ति सोचता है कि पारमार्थिक मार्गमें रखा ही क्या है? ऐसा सोचकर वह उसे छोड़ देता है और नास्तिक बन जाता है। परिणामस्वरूप उसका बिलकुल पतन हो जाता है। इसलिये अपने भीतर संशयका रहना साधकको बुरा लगना चाहिये। संशय बुरा लगनेपर जिज्ञासा जाग्रत् होती है। जिज्ञासा जाग्रत् होनेपर वह साधु-सन्तोंके यहाँ जाता है, ग्रन्थों आदिका अध्ययन करता है और किसी-न-किसी प्रकार उसका संशय अवश्य दूर हो जाता है। यदि इतनेपर भी संशय दूर न हो तो सन्तोंके संगसे उसपर भगवान्‌की कृपा हो जाती है, तब तो फिर संशय दूर हो ही जाता है।

संशययुक्त मनुष्यका यह लोक भी बिगड़ जाता है; क्योंकि वह प्रत्येक कार्यमें संशय ही करता है, जैसे क्या मालूम यह भोजन अच्छा है कि नहीं? क्या मालूम यह आदमी अच्छा है कि नहीं? क्या मालूम इसके साथ मेरा

हित है कि नहीं? आदि-आदि।

संशययुक्त मनुष्यका परलोक भी बिगड़ जाता है। अर्थात् उसे परलोकमें भी कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती; क्योंकि कल्याणमें निश्चयात्मिका बुद्धिकी जरूरत है और संशययुक्त मनुष्य दुविधामें रहनेके कारण कोई एक निश्चय नहीं कर पाता। जैसे—जप करूँ या स्वाध्याय करूँ? संसारका काम करूँ या परमात्म-प्राप्ति करूँ? इस मार्ग जाऊँ कि उस मार्ग जाऊँ? आदि-आदि।

इसलिये शास्त्र या सन्त-महापुरुषोंपर श्रद्धा करके संशयको अवश्य मिटा देना चाहिये। नहीं तो उस मनुष्यकी दशा वैसी ही होगी, कैसी?—

कुछ श्रद्धा, कुछ दुष्टता, कुछ संशय, कुछ ज्ञान।
घर का रहा न घाट का, ज्यों धोबी का श्वान॥

मौन रहनेका तात्पर्य है कि वह भगवान्‌का चिन्तन करे या वाणीका संयम रखे अथवा अन्तःकरणमें आनेवाली प्रत्येक वृत्तिमें उसको यह दीखता रहे कि—'सबकुछ भगवान् ही हैं'। लेकिन जो लोग वाणीमात्रका तो मौन रखते हैं और भगवान्‌का चिन्तन नहीं करते—वे तो पूरे दम्भी हैं, क्योंकि वाणीके मौन रखनेमात्रसे यदि भक्त होना सम्भव होता, तो भक्त होना बड़ा आसान हो जाता और संसारमें असंख्य भक्त हो जाते।

जैसे—ब्राह्मणको गाय दान करनेपर हम उसको चारा-पानी तो दे सकते हैं, पर दी हुई गायका दूध पीनेका हक हमें नहीं है, वैसे ही परमात्माद्वारा दिये हुए इस शरीरका सदुपयोग करना हमारा कर्तव्य है, पर इसे अपना मानकर सुख भोगनेका हक हमें नहीं है।

किसी-किसी मनुष्यमें प्रायः यह धारणा बन जाती है कि घर-कुटुम्ब आदिको छोड़कर जबतक साधु-संन्यासी नहीं बन जाते, तबतक कल्याण नहीं हो सकता—'है तो बात बहुत ठीक'। लेकिन, यदि किसी कारणवश साधु-संन्यासी न भी बन पाये, तब भी कल्याण हो सकता है—'यदि किसी भी परिस्थिति, अवस्था, घटना, देश, काल आदिका सदुपयोग किया जाय तो'।

वास्तवमें यदि देखा जाय तो जो वर्ण एवं आश्रममें जितना ऊँचा होता है, उसके लिये शास्त्रोंमें उतने ही कठिन नियम होते हैं, किंतु जो वर्ण एवं आश्रममें जितना नीचा होता है, उसके लिये उतने ही सरल नियम होते हैं। जैसे—शम, दम, शौच, शान्ति, ज्ञान, विज्ञान आदि नौ धर्मोंके पालनसे ब्राह्मणका जो कल्याण होता है; वही कल्याण शौर्य, तेज, धैर्य, दान, अपलायन, ईश्वरभाव आदि सात धर्मोंके पालनसे क्षत्रियका हो जाता है। इसी प्रकार खेती, गोरक्षा आदि धर्मोंसे जो कल्याण वैश्यका होता है, वही कल्याण मात्र सेवा-धर्मसे शूद्रका हो जाता है। इस विषयमें श्रीविष्णुपुराणमें एक कथा आती है—'एक बार बहुतसे ऋषि-मुनि मिलकर श्रेष्ठताका निर्णय करानेके लिये भगवान् व्यासजीके पास गये। व्यासजीने सबको बैठाया और वे वहीं गंगाजीमें स्नान करने लगे। गंगाजीमें स्नान करते हुए उन्होंने कहा कि—'कलियुग! तुम धन्य हो, स्त्रियो! तुम धन्य हो, शूद्रो! तुम धन्य हो'! जब व्यासजी जलसे बाहर आये, तब ऋषियोंने पूछा—महाराज! आपने कलियुग, स्त्रियों और शूद्रोंको धन्य क्यों कहा?। वे बोले—ऋषियो! कलियुगमें अपने धर्मका पालन करनेसे स्त्रियों एवं शूद्रोंका कल्याण बहुत जल्दी हो जाता है। इनका धर्म भी सरल है, इसलिये मैंने इन्हें धन्यवाद दिया।

वास्तवमें परमात्मा ही समस्त प्राणियोंका भरण-पोषण करते हैं, पर जीवात्मा संसारसे अपना सम्बन्ध मान लेनेके कारण सांसारिक व्यक्तियोंको अपना मान लेता है और उनके भरण-पोषणका भार अपने ऊपर ले लेता है, जिससे वह व्यर्थ ही दुःख भोगता है।

सन्त-महात्मा यज्ञ, भजन आदि धर्मके कार्य एवं उपदेशद्वारा लोगोंको सुधारनेके काम तो करते हैं, लेकिन वे दुष्टोंके विनाशका कार्य नहीं करते, दुष्टोंके विनाशका कार्य तो भगवान् अपने हाथमें रखते हैं, जैसे—साधारण मलहम-पट्टीका काम तो कम्पाउण्डर करता है, पर बड़ा आपरेशन स्वयं डॉक्टर करता है।

प्रश्न—भगवान् यदि साधु पुरुषोंकी रक्षा करते हैं, तो फिर संसारमें साधु पुरुष दुःख पाते हुए क्यों देखे जाते हैं?

उत्तर—इस प्रश्नका समाधान यह है कि साधु पुरुषोंकी रक्षाका कार्य माने उनके भावोंकी रक्षा करना है—शरीर, धन-सम्पत्ति, मान, बड़ाई आदिकी रक्षा करना नहीं। कारण कि साधु पुरुष इन सांसारिक पदार्थोंको महत्त्व नहीं देते; क्योंकि सांसारिक वस्तुओंको महत्त्व देनेसे असाधुता पैदा होती है। भगवान् भी सांसारिक चीजोंको महत्त्व नहीं देते।

जैसे, बहुत-सी सौतें अपने पतिको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, वैसे ही मनुष्यकी इन्द्रियाँ भी उसे अपनी-अपनी ओर खींचती हैं। जिह्वा स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर खींचती है, त्वचा कोमल शय्याकी ओर खींचती है, कान मधुर गीतोंकी ओर खींचते हैं और आँखें सुन्दर रूप देखनेको खींचती हैं। अतः इन्द्रियाँ बिलकुल सौतोंके समान हैं, इसलिये इनसे सदा सावधान रहना चाहिये।

विशेष—जो साधक भगवान्‌की लीला-कथासे श्रद्धा रखता है तथा यह भी जानता है कि समस्त भोग-वासनाएँ दुःखरूप हैं, लेकिन उन भोग-वासनाओंके त्यागनेमें वह असमर्थ है, तो उसे चाहिये कि वह उन भोग-वासनाओंमें सच्ची आसक्ति न रखकर उनको भोगता रहे और भगवान्‌का भजन भी करता रहे अर्थात् भोग-वासनाओंके डरसे वह भजन न छोड़े। एक दिन ऐसा आयगा कि उसके हृदयमें स्वयं भगवान् आकर विराजमान हो जायँगे। उनके विराजते ही फिर तो उसकी सारी वासनाएँ तुरंत अपने संस्कारोंके साथ नष्ट हो जायँगी। (श्रीमद्भा० ११। २०। २७—३०)

'प्रसादे सर्वदुःखानाम्'

(श्रीबरजोरसिंहजी, एम०ए०)

भगवान् श्रीकृष्ण गीता (२। ६५)-में कहते हैं—**'प्रसादे सर्वदुःखानाम्'** अर्थात् अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर मनुष्यके सारे दुःखोंका अन्त हो जाता है—**'हानिरस्योपजायते'**। पर सवाल इस बातका है कि प्रसन्नता कब होती है और कैसे होती है; तो जवाबमें भगवान् कहते हैं कि साधक जब इन्द्रियोंको वशमें कर लेता है तभी वह प्रसन्नताको पा लेता है। यदि हम गीता (२। ६४)-का अध्ययन करें तो स्थिति बिलकुल स्पष्ट हो जायगी। यथा—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

जब साधकके सारे दुःखोंका अन्त हो जाता है तो उसकी बुद्धि स्वतः ही परमात्माकी ओर उन्मुख होने लगती है और परमात्माकी ओर उन्मुख होनेसे उसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, जो मानवका सबसे बड़ा सुख है और सबसे बड़ा हित है। यदि हम भगवान्‌के बताये सुखोंको देखें तो भगवान्‌ने गीता (१८। ३६)-में कहा है—हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! इस प्रकारके सुखोंको मुझसे सुनो। उन तीनोंमें सात्त्विक सुख प्रमुख है, इसलिये तुम उसको जान लो। श्रीभगवान् आगे कहते हैं कि जो मनुष्य भजन, ध्यान, सेवाका कार्य करता है, पूरे मानवसमाजकी सेवा करता है, यहाँतक कि वह पशु-पक्षियोंके प्रति भी दयाभाव रखता है, उसके दुःखोंका अन्त हो जाता है और वह सुखोंको प्राप्त कर लेता है। यद्यपि यह कार्य प्रारम्भमें कठिन होता है, पर बादमें वह अमृततुल्य फलदायी होता है। यही सात्त्विक सुखका परिणाम है। सन्त तुलसीदासजी सुखके बारेमें लिखते हैं कि यदि हम सुख चाहते हैं तो केवल कपट-छल छोड़कर भगवान्‌के सामने आना पड़ेगा, तभी सुख मिल पायेगा। यथा—

करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं किएँ कोटि उपचार॥

(रा०च०मा० २। १०७)

जो अपने अन्तःकरणको वशमें नहीं करता, उसे शान्ति कभी नहीं मिल सकती, वह सदैव अशान्त रहता है और जन्म-जन्मान्तरोंतक भटकता रहता है। इस मृत्युरूपी संसारमें उसका उद्धार हो नहीं सकता, न ही वह कभी सुख पा सकता है।

गीता (२। ६६)-में श्रीभगवान्‌ने कहा है—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तः-करणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है?

इसलिये हमें छल-कपट छोड़कर; इन्द्रियोंको वशमें करके; राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारोंको छोड़कर श्रीभगवान्‌के बताये रास्तेपर चलकर अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त करना चाहिये।

आत्मविज्ञान ही सच्चा अध्यात्म है

(श्रीदयानन्दजी यादव)

आत्मविज्ञानका प्रमुख विषय है—जीवात्माका साक्षात्कार कैसे हो? परमात्मासे आत्माके सम्बन्धकी पहचान ही अध्यात्म है। यह सत्य है कि जड़ (शरीर)-में चेतन (आत्मा)-का निवास है, अतः जड़ शरीर (क्षेत्र) और चेतन (क्षेत्रज्ञ) दोनोंका ज्ञान आवश्यक है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता (१३। २)-में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

इस क्षेत्र (शरीर)-की अनन्त ब्रह्माण्डोंके साथ एकता है तथा क्षेत्रज्ञ (जीवात्मा)-की अनन्त, अपार, असीम ब्रह्मके साथ एकता है, तात्पर्य है कि एक क्षेत्रके सम्बन्धसे वही क्षेत्रज्ञ है और सम्पूर्ण क्षेत्रोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर वही ब्रह्म है।

शरीर, जीवात्मा और ब्रह्मका सम्बन्ध ही आत्मविज्ञान और अध्यात्मकी विषय-वस्तु है। अध्यात्मपर प्रकाश डालते हुए श्रीमद्भगवद्गीताके तेरहवें अध्यायमें लिखा है—

'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।'

अर्थात् अध्यात्मज्ञानमें नित्य-निरन्तर रहना और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सब जगह देखना ही अध्यात्म है।

इस प्रकार आत्मविज्ञानका ज्ञान प्राप्तकर अध्यात्मको प्राप्त करनेका लक्ष्य ही प्रमुख है। इसके लिये सबसे पहले हमें इस क्षेत्र (शरीर)-का ज्ञान होना चाहिये, तभी हम क्षेत्रज्ञ (आत्मा)-को पहचान सकते हैं और क्षेत्रज्ञकी पहचान हो जानेपर ही ब्रह्मका साक्षात्कार सम्भव है।

जिस स्थूल शरीरकी रचना पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश)-से हुई है, उस स्थूल शरीरमें जीवात्माकी सेवा करनेकी शक्ति नहीं है। यह शक्ति इस स्थूल शरीरमें बसे 'सूक्ष्म शरीर' में है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरकी रचना पाँच कोशोंके द्वारा रची हुई है—(१) अन्नमयकोश (भ्रूणरूप), (२) प्राणमयकोश (प्राणरूप), (३) मनोमयकोश (मनरूप), (४) विज्ञानमयकोश (बुद्धि-रूप), (५) आनन्दमयकोश (जीव और ब्रह्मरूप)। समस्त स्थूल, सूक्ष्म जगत् अमृतपुत्र जीवात्माके भोग और अपवर्गसिद्धिके लिये रचा गया है।

अमृतपुत्र जीवात्माके लिये भगवान्ने एक अति सुन्दर देवपुरी (मानवदेह) बनायी और उसमें जीवात्माको प्रतिष्ठित कर दिया, इसीलिये यह स्थूल देह मोक्षरूप धर्मके उपार्जनका मुख्य साधन है; क्योंकि इसीमें 'सूक्ष्म' और 'कारण' शरीर निवास करते हैं।

इस अन्नमयकोशमें प्रारम्भिक भ्रूणसे लेकर पूर्ण विकसित शरीर शामिल है। इसी कारण इस कोशकी विषयवस्तु बहुत व्यापक है। इसमें शरीर-रचना, शरीर-क्रियाविज्ञान, स्नायु-तन्त्र, भोजन-तन्त्र, उत्सर्जन-तन्त्र, रक्त-परिसंचरण-तन्त्र और मस्तिष्कसहित पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और शरीरस्थ सात चक्र शामिल हैं।

इस स्थूल देहकी सभी क्रियाओंको ठीक प्रकारसे संचालित करनेके लिये इस अन्नमयकोशमें सात चक्र बहुत महत्त्वपूर्ण हैं; क्योंकि ये चक्र शक्ति और ऊर्जाके प्रमुख केन्द्र हैं, इन्हींकी साधनासे जीवात्मा परमात्माकी ओर प्रेरित होता है। ये सात चक्र इस प्रकार हैं—(१) मूलाधार-चक्र (सीवनी), (२) स्वाधिष्ठान-चक्र (उपस्थ), (३) मणिपूर-चक्र (नाभि), (४) अनाहत-चक्र (हृदयदेश), (५) विशुद्धाख्य-चक्र (कण्ठ), (६) आज्ञा-चक्र (भ्रूमध्य-महाशून्य) और (७) सहस्रार-चक्र (मूर्धा)। ये सभी चक्र शरीरमें असीम शक्तिके केन्द्र हैं। शक्तिकी प्रत्येक क्रियाको इन्हीं केन्द्रोंसे ऊर्जा एवं प्रेरणा प्राप्त होती है।

मूलाधार-चक्रमें कुण्डलिनीका निवास है, यही कुण्डलिनी (भुजंगिनी) सबको भोगकी ओर आकृष्ट करती है, लेकिन जिस साधककी कुण्डलिनी जाग्रत् होती है; उसकी कल्पनाशक्ति, तर्कशक्ति और स्मृति विकसित हो जाती है तथा साधकको निर्भयता और आनन्दकी प्राप्ति होती है; क्योंकि कुण्डलिनी समस्त योगतन्त्रोंका आधार है।

स्वाधिष्ठान-चक्रका स्थान उपस्थ है। साधक इस चक्रके ध्यानद्वारा अपानवायुको ऊर्ध्वगामी बनाकर कामजित् हो जाता है तथा उसे चन्द्रामृत ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं वैराग्यकी प्राप्ति होती है। वह निरहंकार हो जाता है।

मणिपूर-चक्रका स्थान नाभि है। इस चक्रके ध्यानसे

साधकको श्रद्धा, ज्ञान, आरोग्य और दृढ़ निश्चयकी प्राप्ति होती है। वह सिद्धोंके दर्शन कर सकता है। उसे औषधियोंका परिचय एवं ज्ञान स्वाभाविक रूपसे हो जाता है।

अनाहत-चक्रका स्थान हृदय है, जहाँ हृदयाकाशमें आत्माका निवास भी माना गया है। अत: इस चक्रका ध्यान करनेसे भूचरी-खेचरी मुद्राओंकी सिद्धि हो जाती है। साधक त्रिकालज्ञानी हो जाता है, इसलिये वह दूरदर्शन, दूरश्रवण और आकाशगमन-जैसी क्रियाएँ करनेमें सक्षम होता है।

विशुद्धाख्य-चक्रका स्थान कण्ठ है। इस चक्रकी सिद्धिके पश्चात् साधकको वेदोंका ज्ञान एवं पाण्डित्यकी प्राप्ति होती है। साधक शान्ति, ज्ञान एवं आनन्दकी प्राप्तिकर निरामय हो जाता है।

आज्ञा-चक्रका स्थान भ्रूमध्य है। इस चक्रकी सिद्धिसे साधकको मोक्ष एवं सायुज्य-पदकी प्राप्ति होती है।

सहस्रार-चक्रका स्थान मूर्धा है। इस चक्रके ध्यान और सिद्धिसे साधकको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होती है, जिससे वह भव-बन्धनसे मुक्त हो जाता है एवं उसकी सहज समाधि लग जाती है।

इस प्रकार साधकद्वारा इन चक्रोंकी सिद्धि प्राप्त करनेपर उसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें हो जाती हैं और साधक रस-बुद्धिका त्यागकर इन्द्रियोंपर नियन्त्रण प्राप्त करता है। यह साधकके लिये अति आवश्यक है; क्योंकि ये चंचल इन्द्रियाँ ही मनका हरण करती हैं।

प्राणमयकोश भी देहका महत्त्वपूर्ण कोश है; क्योंकि आकाशतत्त्वके बाद प्राण ही सूक्ष्म और व्यापक है। इस प्राणमयकोशमें पाँच प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) तथा पाँच उपप्राण (देवदत्त, कृकल, कूर्म, नाग, धनंजय) विद्यमान हैं। इस प्राणमयकोशके साथ 'सूक्ष्म' और 'कारण' शरीरका सम्बन्ध है। अन्नमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश और आनन्दमयकोशोंको प्राणमयकोशने ही आच्छादित किया हुआ है। इसलिये प्राणमयकोश ही जीवनकी समस्त क्रियाओंका आधार है।

मनोमयकोशमें मुख्यरूपसे अन्त:करणचतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार)-मेंसे मन-बुद्धिके सामंजस्यका क्षेत्र आता है। मनोमयकोशकी विषय-वस्तुमें इन्द्रियराज मन अपनी स्वामिनी बुद्धिकी आज्ञाका कुशलता और तत्परतासे स्वयं पालन करता है तथा अपनी अनुचरी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियोंसे दिव्य शक्तिके द्वारा पालन कराता है। यह मनोमयकोश सूक्ष्म शरीरका क्रियाप्रधान भाग है, इसलिये साधकको चाहिये कि बुद्धिकी समता रखते हुए कर्म करे; क्योंकि इसीसे कर्मोंमें कुशलता प्राप्त होती है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

(गीता २।५०)

विज्ञानमयकोशमें ज्ञानात्मक तत्त्व—बुद्धि ही प्रमुख है। यह कोश सूक्ष्म शरीरका ज्ञानप्रधान भाग है। इस कोशमें ज्ञानकी प्रधानता होनेके कारण 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' का बहुत महत्त्व है। जब बुद्धिकी विवेचना शक्ति केवल सत्यको ही ग्रहण करती है तो वह 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' कहलाती है।

सूक्ष्म शरीरके मनोमयकोश और विज्ञानमयकोश—दोनों ही ब्रह्मरन्ध्रमें निवास करते हैं, इनका साक्षात्कार दिव्य दृष्टिसे ही सम्भव है।

इस सूक्ष्म शरीरका निवास भी स्थूल शरीरमें है और यह स्थूल शरीर पंचमहाभूतसे बना है। ये पंचमहाभूत स्वयं जड़ होते हुए भी चेतन (सूक्ष्म शरीर)-को आश्रय देते हैं।

सूक्ष्म शरीरका सहारा लेकर साधकको संकल्प-विकल्पका अभाव रखकर विचारशून्य दशामें वृद्धि करनी चाहिये, जिससे आत्माका परमात्मासे साक्षात्कार हो सके।

आनन्दमयकोश जीव और ब्रह्मसम्बन्धी सूक्ष्मतम विज्ञानकी दृष्टिसे अन्तिम कोश है। इसके अनेक नाम हैं यथा—ब्रह्मपुर, हिरण्मयकोश, हृत्कमल, हृदयाकाश, अनाहत-चक्र आदि। आनन्दमयकोशका स्वरूप हृदयके मध्यमें एक छोटा-सा अण्डाकृतिका रिक्त पिण्ड है। पुराणोंमें इसे ज्योतिर्लिंग भी कहा गया है। हृदयस्थ इस अण्डाकार पोलमें मण्डलाकार शिवलिंगमें चूड़ियोंकी तरह विभिन्न मण्डलोंकी दिव्य ज्योतियाँ विद्यमान हैं। इनमें सबसे ऊपर ब्रह्ममण्डल फिर क्रमशः प्रकृतिमण्डल, सूक्ष्म प्राणमण्डल, अहंकारमण्डल, चित्तमण्डल और अन्त:स्थ जीवात्माका मण्डल प्रकाशमान है। जीवात्माके मण्डलमें परमात्माका अंश 'जीव' विराजमान है। जीवका सामान्य धर्म है दु:खमें दु:खी और सुखमें आनन्दित होना, लेकिन ईश्वरका अंश होनेके कारण यह जीवात्मा अविनाशी, चेतन, निर्मल और स्वभावसे ही सुखकी राशि है। इसलिये

इस जीवात्माका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि शरीर तो कर्म करने और उसका फल भोगनेका उपकरणमात्र है। जीवात्मा परब्रह्म परमात्माका अंशमात्र है। अत: जीवात्मापर ब्रह्मका प्रकाश आच्छादित है। इसलिये ब्रह्मके बहुत सारे गुण आत्मामें झलकते हैं। यथा—ज्ञान, आनन्द, शक्ति, प्रेम, शान्ति तथा सौन्दर्य आदि। लेकिन पूर्णब्रह्म नहीं होनेके कारण मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा जीवात्माका दमन कर दिया जाता है।

अत: ब्रह्म (परमात्मा)-को जानकर उसकी शरणमें जाना जीवका परम धर्म है।

शरणागति ही सच्चा अध्यात्म है, शरणागतिका अर्थ है—परमात्माका निरन्तर स्मरण करना, परमात्माके विधानको स्वीकार करना, किसी पदार्थकी चाह नहीं रखना; क्योंकि संग्रह और भोग परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें बाधक हैं। जीवका एक ही ध्येय होना चाहिये—'हे प्रभो! मुझे अपनी शरण में ले लो।' —यह भाव जीवमें जितना बढ़ता जायगा, साधक उतना ही परमात्माकी शरणमें अग्रसर होता जायगा और अध्यात्मज्ञानमें नित्य निरन्तर रहकर तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सब जगह देखने लगेगा। अत: जीवको ब्रह्म (परमात्मा)-की शरणागति स्वीकारकर सत्कर्मसे ब्रह्ममय हो जाना चाहिये; क्योंकि यह दुर्लभ देह (मानव-तन) बड़े सौभाग्यसे प्राप्त हुआ है। जैसा कि श्रीरामचरितमानसमें भी लिखा है—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥

बड़े भाग्यसे जीवको मनुष्य-शरीर मिला है। इसे व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये; क्योंकि यही जन्म ऐसा है जो 'भोग-योनि' भी है और 'कर्म-योनि' भी। सत्कर्म और परमात्माकी शरणागतिसे जीव इस भवसागरको पार कर लेता है। इसीलिये इस मानव-योनिको प्राप्त करनेकी याचना चराचर जगत् करता है, जैसा कि मानसके उत्तरकाण्डमें गोस्वामीजीने लिखा है—

नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥

अत: शरीरका ज्ञान प्राप्तकर योग-साधनासे जीवात्माका परमात्मा (ब्रह्म)-से साक्षात्कार सम्भव है, इसीलिये आत्मविज्ञान ही सच्चा अध्यात्म है।

'क्षमा वीरस्य भूषणम्'

(श्रीताराचन्दजी आहूजा)

'क्षमा' शब्दकी उत्पत्ति 'क्षम्' धातुमें 'अङ्' प्रत्यय और 'टाप्' स्त्रीप्रत्यय लगानेसे हुई है, जिसका अर्थ है—धैर्य, सहिष्णुता, शक्ति, बल, योग्यता, सामर्थ्य। दूसरे शब्दोंमें क्षमा व्यक्तित्वका वह विलक्षण गुण है, जिसमें कोई व्यक्ति अन्यद्वारा अपने साथ किये गये दुर्व्यवहार या अपराधसे दु:खी न होकर बदलेमें उसके प्रति सहदयतापूर्ण व्यवहार करता है। इसके विपरीत साधारण व्यक्ति प्रतिशोधमें विश्वास करता है। रॉबर्ट ब्राउनिंगका कथन है—'क्षमा करना अच्छा है, भूल जाना सर्वोत्तम।' इसी प्रकार विलियम ब्लैकका मानना है—'मित्रको क्षमा करनेकी अपेक्षा शत्रुको क्षमा करना महान् कार्य है।' वस्तुत: क्षमा दुर्बलता नहीं, वरन् शक्तधर्म है। अपनेमें दण्ड देनेकी शक्ति अथवा सामर्थ्य होते हुए भी अपराधी या दोषीको दण्ड न देना ही क्षमा है। क्षमा क्षमाशीलका आत्मिक बल है; जो उसमें उदारता, सद्भावना, सहदयता, सहनशीलता, दयालुता, परोपकार, नि:स्वार्थता, त्याग तथा समदृष्टि-जैसे अनेक गुणोंके रूपमें परिलक्षित होता है।

दानके अनेक रूप तथा श्रेणियाँ हैं। जैसे—अन्नदान, वस्त्रदान, ज्ञानदान, गोदान, कन्यादान, प्राणदान आदि। दान किसी भी प्रकारका हो सकता है, जिसका अर्थ है—देना। यह भौतिक जगत्की कोई वस्तु भी हो सकती है अथवा यह एक मानसिक अवस्था भी। ऐसी ही एक मानसिक अवस्था है—क्षमादानकी। किसीको क्षमा करना भी एक बहुत बड़ा दान है। क्षमा मनुष्यका सर्वश्रेष्ठ गुण है। क्षमावान् व्यक्ति धैर्यशील तथा सन्तोषी होता है। शास्त्रोंमें कहा गया है—'**क्षमा वीरस्य भूषणम्**।' अर्थात् क्षमाभावना वीरोंका आभूषण होती है। वस्तुत: वह वीर ही है जो अपने मान-अपमान, लाभ-हानिकी परवाह किये बिना अपने कर्तव्यका पालन करता है तथा शान्त एवं सन्तुष्ट रहता है। उसकी सहनशीलता प्रबल होती है। वह शोषणमें नहीं बल्कि पोषणमें विश्वास करता है। इसके विपरीत, क्षमा माँगनेवाला व्यक्ति भी महान् ही होता है; क्योंकि वह न केवल अपनी गलतीको स्वीकार करता है, वरन् भविष्यमें उस गलतीको न दोहरानेका संकल्प भी लेता है।

क्षमा माँग लेनेपर व्यक्तिकी निन्दा, नफरत, क्रोध और दुर्भावना समाप्त होती है। क्षमा या माफी माँगनेसे कोई व्यक्ति छोटा नहीं हो जाता वरन् इस कृत्यसे जो विनम्रताका भाव प्रस्फुटित होता है, उससे उसका कद पहलेसे कहीं अधिक बढ़ जाता है।

क्षमा मनुष्यको बदलेकी भावनासे ऊपर उठाती है। इस भावसे पूर्ण व्यक्तिका हृदय विशाल होता है। इस अवस्थामें उसका क्रोध एवं अहंकार समाप्त हो जाता है। जब ईसाको काँटोंका ताज पहनाकर सूलीपर लटकाया गया तो उन्होंने अपने विरोधियोंके लिये भी प्रार्थना की—'हे प्रभो! इन्हें क्षमा करना; क्योंकि ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।' अपमान और कष्ट सहते हुए भी उन्होंने सबको क्षमा कर दिया। पुराणोंमें एक कथा आती है—एक बार भृगुऋषिके मनमें त्रिदेव—ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी परीक्षा लेनेका विचार आया। उसका प्रश्न था कि तीनों देवताओंमें कौन श्रेष्ठ है? सर्वप्रथम भृगुऋषि ब्रह्मलोक पहुँचे। वहाँ उन्होंने ब्रह्माजीको प्रणाम किये बिना ऐसे शब्दोंका उच्चारण किया, जो किसीको भी आहत कर सकते थे। यह देखकर ब्रह्माजी क्रोधित हो गये और दण्ड देनेके लिये उद्यत हुए। देवी सरस्वतीने ब्रह्माजीका हाथ पकड़ा और भृगुके अप्रत्याशित व्यवहारके लिये क्षमा करनेको कहा। भृगुऋषिने ब्रह्माजीसे क्षमा-याचना की और वहाँसे चल दिये।

अब भृगुऋषि कैलासपर्वतपर पहुँचे। वहाँपर भी शंकरजीके प्रति उन्होंने कठोर तथा अपमानजनक शब्दोंका प्रयोग किया। परिणामतः शंकरजी रुष्ट हो गये और मारनेके लिये त्रिशूल उठा लिया। यह देखकर भृगुजीने हाथ जोड़ लिये। इसके बाद ऋषि विष्णुजीके पास वैकुण्ठधाममें जा पहुँचे। वहाँ पहुँचते ही भृगुने विष्णुजीकी छातीपर लातसे प्रहार किया। लात लगते ही विष्णुजीकी नींद खुल गयी। उन्होंने तुरंत ऋषिके पैर पकड़ लिये और बोले—ऋषिवर! मेरे कठोर शरीरसे आपको चोट तो नहीं लगी? इतना सुनते ही ऋषि विष्णुजीके चरणोंमें गिर पड़े, क्षमा माँगी और बोले—'भगवन्! तीनों लोकोंमें आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं; क्योंकि आप सहनशील एवं क्षमावान् हैं।' परमसंत रहीमदासजी कहते हैं—

छिमा बड़ेन को चाहिये छोटिन को उतपात।
का रहीम हरि को घट्यो जो भृगु मारी लात॥

आमलोगोंकी यह धारणा होती है कि क्षमा दुर्बलताका प्रतीक है और क्रोध तथा हिंसामें शक्ति दिखायी पड़ती है। लेकिन महापुरुष कहते हैं कि इस अवधारणामें सत्यका अंश नहीं है। वस्तुतः शक्ति वहीं है, जहाँ क्षमाका भाव है। बदलेकी भावना घृणा या हिंसा उत्पन्न करती है जबकि क्षमामें निहित है—अहिंसाका भाव, जो धर्मका प्रमुख लक्षण है। जो व्यक्ति अपने क्रोधपर काबू पा लेता है, वही शक्तिशाली है। किसीपर उत्पन्न क्रोधको भुला देना किसी वीरका काम ही हो सकता है, निर्बलका नहीं। क्षमा करना एक सकारात्मक भाव है। क्षमा न करना और घृणा तथा द्वेषके भावोंको पाल लेना विकृत एवं नकारात्मक मानसिकताका प्रतीक है। शत्रुता और द्वेष-ईर्ष्या आदि शब्दोंका अस्तित्व क्षमाके अभावके कारण ही है। जहाँ क्षमा है, वहाँ इन शब्दोंका कोई अर्थ नहीं होता। क्षमा शत्रुताका नाश करके मित्रताका विस्तार करती है। कहा गया है कि दानके गर्भमें ही निहित है प्राप्तिका मूल। क्षमादान भी इसका अपवाद नहीं। हृदयसे किया गया क्षमादान मनको शान्ति और सुकून प्रदान करता है।

क्षमादान मनकी एक उदात्त दशा और एक श्रेष्ठ भाव है। क्षमा कर देनेसे क्षमा निष्काम कर्मकी कोटिमें आ जाती है और निष्काम कर्मको धर्मशास्त्रोंमें सबसे उत्तम माना गया है।

तत्त्वदर्शी मनीषियोंका कथन है कि जो लोग न क्षमा माँगना जानते हैं और न क्षमा करना, वे अपने लिये इस धरतीपर ही नरककी सृष्टि कर लेते हैं। क्रोध और घृणाके रास्तेसे मिली विजयकी अपेक्षा क्षमाके रास्तेसे मिली पराजय अधिक सुखद होती है। यदि प्रेम और क्षमाद्वारा किसीपर विजय पायी जा सकती है तो लड़ाई करने और शत्रुता बढ़ानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आज विश्वमें हिंसा तथा अत्याचारका जो ताण्डवनृत्य हो रहा है, वह क्षमाभावके अभावके कारण ही हो रहा है। सन्तोंमें क्षमाका भाव कूट-कूटकर भरा होता है। अतः वे न केवल क्षमाकी प्रतिमूर्ति होते हैं, वरन् दूसरोंको भी इस भावको अंगीकार करनेकी शिक्षा देते हैं। तभी तो कबीरदासजीने कहा है—

संत न छोड़े संतई कोटिक मिलै असंत।
मलय भुजंगहि बेधिआ सीतलता न तजंत॥

जल-विद्युत्-बाँधोंका मोक्षदायिनी माँ गंगापर प्रभाव

(डॉ० श्रीभरतजी झुनझुनवाला)

उत्तराखण्डसरकार जल-विद्युत्के उत्पादनके लिये माँ भागीरथी, अलकनन्दा एवं गंगापर रन ऑफ रिवर बाँधोंकी शृंखला बना रही है। गंगोत्रीसे देवप्रयागकी लगभग २२५ किलोमीटरकी दूरीमें भागीरथीका स्वतन्त्र एवं खुला बहाव पूर्णतया बन्द हो जायगा। ऐसा ही बद्रीनाथधामसे देवप्रयागकी २५० किलोमीटरकी दूरी तय करके आ रही माँ अलकनन्दाके साथ होगा। देवप्रयागके नीचे कौडियालापर बाँध बननेसे देवप्रयाग-संगम झीलमें बदल जायगा। इस सम्पूर्ण दूरीमें माँ गंगा सुरंगों, नहरों एवं झीलोंमें बहेंगी।

गंगाके बहावपर प्रभाव

जल-विद्युत्-बाँध दो प्रकारके होते हैं—स्टोरेज बाँध एवं रन ऑफ रिवर बाँध। स्टोरेज बाँध टिहरी-जैसे होते हैं। इन बाँधोंमें वर्षा ऋतुमें जलका संग्रहण किया जाता है और ग्रीष्मकालमें इसे सिंचाईके लिये छोड़ा जाता है। रन ऑफ रिवर बाँधमें जलका संग्रहण नहीं किया जाता है। जितना पानी नदीमें आता है, उसे बिजलीका उत्पादन करके छोड़ दिया जाता है। उत्तराखण्डसरकारका मानना है कि टिहरी-जैसे स्टोरेज बाँधोंसे गंगाजलकी गुणवत्ताका कुछ ह्रास हो सकता है, किंतु रन ऑफ रिवर बाँधसे ऐसा नहीं होगा। इसलिये गंगोत्री एवं बद्रीनाथसे कौडियालातककी सम्पूर्ण दूरीपर रन ऑफ रिवर बाँध बनाये जा रहे हैं।

सामान्यत: नदी पहाड़से धीरे-धीरे उतरती है। इसके विपरीत जल-विद्युत्के उत्पादनके लिये एक स्थानपर पानीको ऊँचाईसे गिराया जाता है। इस ऊँचाईकी प्राप्तिके लिये नदीकी प्राकृतिक चालको नहर, सुरंग अथवा तालाबमें मोड़ दिया जाता है। पानीको पावर स्टेशनतक ऊँचे स्तरपर लाया जाता है। इस प्रक्रियामें कई किलोमीटर नदीका पाट सूख जाता है अथवा उसमें केवल मामूली धारा रह जाती है।

गंगाकी आध्यात्मिक शक्ति

कुछ विद्वानोंका मानना है कि बहावके इस बदलावसे गंगाकी मोक्षदायिनी शक्तिका ह्रास नहीं होगा; क्योंकि यह एक दैविक शक्ति है और पानीका भौतिक परिवर्तन इसे छू नहीं सकता है। इस गूढ़ विषयको समझनेके लिये गंगाकी आध्यात्मिक शक्तिके स्रोतको जानना होगा। गंगाजल अन्ततः वर्षाका ही जल है। वर्षाका जल उत्तराखण्डकी उच्च पहाड़ियोंपर हिमके रूपमें एकत्रित होकर पिघलनेपर गंगाजलका रूप धारण कर लेता है। वही जल अन्यत्र पड़े तो गंगाजल नहीं कहलाता है। गंगाजलकी आध्यात्मिक शक्तिका स्रोत उत्तराखण्डकी उच्च पहाड़ियाँ हैं। बद्रीनाथ, गंगोत्री, तपोवन आदि दिव्य स्थलोंपर ऋषि-मुनियोंने सदियोंसे तपस्या की है। पहाड़ियोंमें इस तपस्याके परिणामस्वरूप आध्यात्मिक शक्ति पैदा हो गयी है, जो गंगाजलमें समाहित हो जाती है। बद्रीनाथधामकी पवित्र ब्रह्मकपालीशिलासे सटकर बहनेके कारण अलकनन्दाके जलमें दिव्य गुणोंका आविर्भाव हो जाता है। यदि गंगाको सुरंगमें डाल दिया जायगा तो वह ब्रह्मकपालीशिलासे सटकर नहीं बहेगी और उसे इसका प्रभाव प्राप्त नहीं होगा। गंगाजल सामान्य जलकी श्रेणीमें आ जायगा।

पश्चिमी देशोंमें कोशिकाओंकी स्मरण-शक्तिपर शोध हो रहा है। यूनिवर्सिटी ऑफ एरिजोनाके विद्वानोंने अंग-प्रत्यारोपणके मरीजोंका अध्ययन किया। उन्होंने पाया कि प्राप्तकर्तामें सहज ही दाताके गुण आ जाते हैं। उदाहरणत: एक श्वेत फाउण्ड्री कर्मचारीमें किसी १७ वर्षीय ब्लैक छात्रका ह्रदय प्रत्यारोपित कर दिया गया। प्रत्यारोपणके बाद उसमें शास्त्रीय संगीत सुननेकी इच्छा जाग्रत् हो गयी। उसने सोचा कि सत्रह वर्षीय छात्रको पाप संगीत पसन्द होगा, इसलिये उसने इस परिवर्तनको प्रत्यारोपणसे नहीं जोड़ा। परंतु सच यह था कि दाता छात्र शास्त्रीय संगीतको पसन्द करता था और उसकी मृत्यु गिटारकी कक्षामें जाते समय हुई थी। ह्रदयके माध्यमसे दाताका स्वभाव प्राप्तकर्तामें प्रवेश कर गया था। ऐसे अध्ययनोंके आधारपर वैज्ञानिकोंने विचार बनाया है कि कोशिकाओंमें स्वभावकी याददाश्त रहती है, जो प्राप्तकर्तामें प्रत्यारोपणके बाद सहज ही प्रकट हो जाती है। सम्भव है कि गंगातटपर तपस्वियोंद्वारा की जा रही तपस्यासे इसी प्रकारकी

सूक्ष्म आध्यात्मिक शक्ति गंगाजलमें प्रवेश कर जाती है, जो तीर्थयात्रियोंको शान्ति प्रदान करती है। गंगाके पवित्र पानीके सुरंगोंमें बहनेसे गंगाजल इस तपस्याके फलसे वंचित हो जायगा। गंगाजलकी रासायनिक शक्तियाँ भी खुले बहावमें पत्थरों एवं वनस्पतियोंके रगड़नेसे उत्पन्न होती हैं। गंगाजल इनसे भी वंचित हो जायगा।

गंगाके बहावका स्वरूप

महाभारतके तीर्थयात्रापर्व (१०९। १०—१२)-में गंगाका वर्णन इस प्रकार किया गया है, 'नीचे गिरती हुई फेनपुंजसे व्याप्त हुए जलवाली समुद्रगामिनी गंगा तीन धाराओंमें बँटकर हंसोंकी पंक्तियोंके समान सुशोभित होने लगी। वह मतवाली स्त्रीकी भाँति इस प्रकार आयी कि कहीं तो सर्प-शरीरकी भाँति कुटिल गतिसे बहती थी और कहीं-कहीं ऊँचेसे नीचे गिरकर चट्टानोंसे टकराती जाती थी एवं श्वेत वस्त्रोंके समान प्रतीत होनेवाले फेनपुंज उसे आच्छादित किये हुए थे। कहीं-कहीं वह जलके कल-कल नादसे उत्तम संगीत-सा गा रही थी।'* गंगाके बहावको सुरंगों, नहरों एवं झीलोंमें मोड़नेसे गंगा फेनपुंजयुक्त नहीं रह जायगी। फेन बननेके लिये वेग एवं वायुका संयोग चाहिये जो अनुपलब्ध होगा। वह सर्प-शरीरकी भाँति भी नहीं बहेगी; क्योंकि सुरंगें सीधी बनायी जाती हैं और नहरों तथा झीलोंमें बहावकी गति कम होती है। गंगाजल चट्टानोंसे टकरानेके स्थानपर टर्बाइनके लोहेके पंखोंसे टकराकर आहत होगा। गंगाजलके श्वेत वस्त्र हर लिये जायँगे, चूँकि टर्बाइनमें डालनेके पहले बालू आदिके श्वेत कण पूर्णतया हटा दिये जायँगे। जलका नाद उत्तम संगीत पैदा करनेके स्थानपर टर्बाइनका घर्र-घर्र शब्द पैदा करेगा। अतः रन ऑफ रिवर परियोजनाओंसे गंगाजलके गुणोंपर दुष्प्रभाव पड़ेगा।

महर्षि पतंजलिके अष्टांगयोगसे भी रन ऑफ रिवर बाँधोंके प्रभावोंको समझनेमें मदद मिलती है। सर्वमान्य है कि ईश्वर सर्वव्यापी हैं। तथापि हम पूजाघरमें सफाई करते हैं, धूप जलाते हैं, सुगन्धित पुष्पोंको चढ़ाते हैं और घीके दीये जलाते हैं। इन भौतिक कार्योंसे चेतनाका ईश्वरतक पहुँचना सुलभ हो जाता है। इसी प्रकार गंगाके फेन, रसायन एवं नादसे मनुष्यकी चेतनाका गंगाजलकी आध्यात्मिक शक्तितक पहुँचना सुलभ हो जाता है। इन भौतिक गुणोंके अभावसे गंगामें स्नानसे तीर्थयात्रीका सम्पर्क गंगाजलकी आध्यात्मिक शक्तिसे होना कठिन हो जायगा। जैसे दूषित स्थानपर ईश्वरसे सम्पर्क साधना कठिन हो जाता है।

गंगाके अविरल और निर्मल बहावकी माँग करनेमें भी सतर्क रहना चाहिये। रन ऑफ रिवर परियोजनाओंमें गंगाका अविरल बहाव बना रहता है। जल लगातार एक नहरसे निकलकर दूसरी सुरंग और तीसरी झीलमें प्रवेश करता है। जलकी निर्मलता भी बनी रहती है। सुरंगोंमें मिट्टी और पत्ते जलमें नहीं गिरते हैं। अतः सुरंगोंमें बहती गंगाका प्रवाह अविरल एवं निर्मल होते हुए भी अध्यात्मशून्य होगा; क्योंकि गंगाजलका ऋषि-मुनियोंकी तपस्यासे सम्पर्क बाधित हो जायगा।

पहाड़ी क्षेत्रोंमें गंगापर बन रहे जल-विद्युत्-बाँधोंका विरोध बढ़नेके साथ-साथ मैदानी क्षेत्रोंमें गंगाको प्रदूषणमुक्त करनेकी माँग उठायी जा रही है। गंगाको प्रदूषणमुक्त करना पुण्यका कार्य है। किंतु इसकी आड़में पहाड़ी क्षेत्रोंमें बन रहे रन ऑफ रिवर बाँधोंसे ध्यान नहीं हटाना चाहिये। गंगाजीकी आध्यात्मिक शक्ति पहाड़ोंमें विष्णु और शिवके सांनिध्यसे बनती है। रन ऑफ रिवर बाँधोंकी शृंखला बनाकर पहाड़में गंगाको आध्यात्मिक मृत्यु देनेके बाद मैदानोंमें उसे प्रदूषणसे मुक्त कराना मात्र मनको बहलाना है। गंगा-प्रेमियों एवं उत्तराखण्डसरकारके धर्मगुरुओंसे करबद्ध प्रार्थना है कि गंगाका आध्यात्मिक वध न करें। गंगाकी आध्यात्मिकशक्तिका आर्थिक विकासके लिये दोहन करनेके स्थानपर विद्युत्-उत्पादनके अन्य स्रोतों यथा वायु और सौर ऊर्जा एवं ऊर्जाकी बचतपर ध्यान देना चाहिये।

---

* सा बभूव विसर्पन्ती त्रिधा राजन् समुद्रगा॥
फेनपुञ्जाकुलजला हंसानामिव पङ्क्तयः। क्वचिदाभोगकुटिला प्रस्खलन्ती क्वचित् क्वचित्॥
सा फेनपटसंवीता मत्तेव प्रमदाव्रजत्। क्वचित् सा तोयनिनदैर्नदन्ती नादमुत्तमम्॥

अनोखी प्रीतिकी रीति

'दिलमें दर्द पैदा करो बेटी!'

'यह कैसे हो बाबा?'

'बुद्धिमें पागलपन उत्पन्न होनेसे।'

'कैसे करूँ बाबा! पागल होना क्या अपने हाथमें है।' बाबा मुसकरा उठे।

'बेटी! सच है, पागल होना यह अपने हाथकी बात नहीं, बल्कि यह तो किसीकी प्रीतिका प्रतिफल होता है, जो भाग्यवानोंको ही प्राप्त होता है।'

'किंतु बाबा! प्रीति करना तो बुरी बात है, इसमें तो रहा-सहा अपना चैन भी चला जाता है'—

'प्रीति कर काहू सुख न लह्यो।'

बाबा बड़बड़ाये 'हाँ, प्रीति करना सचमुच ही बुरा है, किंतु प्रीति हो जाना अच्छा है। चैन चला जाना अच्छा है बेटी! किंतु चैन मिलना अच्छाई नहीं।'

'तुम तो उलटी-उलटी बातें बताते हो बाबा! भला सीधी-सी बात करो न?'

'सीधी-सी बात है बेटी! दिलमें दर्द पैदा करो।'

'तो बाबा! दर्द तो तब पैदा हो जब चोट लगे। बिना चोट के कहीं दर्द होता है बाबा?'

'चोट' चोट तो बेटी! प्रतिक्षण लग रही है, जरा आँखें खोलकर देखो न।'

'कहाँ बाबा! चोट कहाँ है; मुझे तो दिखायी नहीं पड़ती, कहीं निशान भी तो नहीं है।'

'निशान है बेटी! जरा आँख खोलकर भीतर देखो। सारा हृदय तो निशानों (संस्कारों)-से रँगा पड़ा है।'

न जाने क्यों अब बाबाकी वाणी सुन-सुनकर बेटीका रंग बदल रहा था। आँखें कुछ झपकनेपर भी उसे कुछ दिखलायी पड़ रहा था। वह हृदयमें हलकी टीस-सी अनुभव कर रही थी। पता नहीं बाबाकी वाणीमेंसे ही टीस-सी निकलकर उसके हृदयमें कुछ दर्द पैदा कर रही थी। वह हृदय थामे बैठी रही। फिर एकाएक विचार आया कि कहीं उसे प्रीति तो नहीं हुई जा रही है। न जाने प्रीतिसे उसके हृदयमें एक अनोखा भय जो था। वह बड़बड़ायी…… प्रीति तो वह नहीं करेगी।

बाबा चले गये। वह भी घर गयी। नित्य जीवन-क्रम सुचारु रूपसे चलने लगा।

वह अविवाहित ही थी।

क्यों?

उसे प्रीति जो नहीं करनी थी। कुछ भय था। दिनभर काम-काज करती, खाना बनाती, नाश्ता तैयार करती। माता-पिता प्रसन्न थे। भाई-बहिन, संगी-साथिनोंके साथ मस्त-सी रहती। हँसते-खेलते, खाते-पीते दिन व्यतीत हो रहे थे। भाई-बहिनमें क्रिकेट होता, वह भी फील्डिंग करती। लुका-छिपी, कबड्डी सब खेलोंमें सबके संग रहती। पूजामें अवश्य उसकी बचपनसे रुचि थी, परंतु प्रीतिमें नहीं। ठाकुरजी पूजती, घंटों आरती-पूजा, अर्चन-वन्दनामें व्यतीत होते। वह भी सबमें भाग लेती। आपसमें भाई-बहिनोंकी लड़ाईमें भी उसे शौक था, किंतु स्थायी रखनेका नहीं। नौकरोंके बच्चोंसे भी उसे दुलार था, तभी तो वे यह रास्ता देखा करते कि कब बिटिया कहीं चलें तो उन्हें पैसे मिलें। उसकी प्रकृति क्या थी, तमाशा थी। कभी गम्भीर, कभी आनन्दमयी। हाँ, मात्रामें कमी और अधिकता अवश्य थी। गायन-वादनमें भी चाव था।

किंतु यह सब?

बाबा न जाने कहाँसे आकर उसके हृदयमें कुछ कर गया। तभी तो बेचारी न जाने क्यों अब बहुधा एकान्तमें हृदय पकड़कर रह जाती। कदाचित् उसके हृदयमें कहीं चोट तो नहीं लग गयी?

ऊपरसे तो कुछ दीखता न था जो बेचारी कुछ ओषधि लगाकर, कुछ लेप ही लगाकर ठीक कर लेती। यही क्रम चल रहा था कि वह खेलती-खाती, काम-काज सब करती, किंतु अब व्यस्त नहीं होती; क्योंकि टीस उसका ध्यान उचाट कर देती और बीच-बीचमें भागकर कमरेमें चली आती और उस चोटको पालनेके ही लिये दो-ढाई घंटे दर्दके ध्यानमें भी बैठ जाती।

क्रमशः बरबसता बढ़ी; क्योंकि चोटमें अब दर्द जो होने लगा था और दर्द भी ऐसा कि दवा करनेसे बढ़ता और दवा भी बेचारीके पास क्या थी? वही ध्यान जो कम-से-कम उस समय तो चैन दे ही देता।

बाबा भी अनोखा था। शरीर क्या था मानो ढाँचामात्र।

स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तक पढ़नेवालोंके लिये उसका एक-एक अंग सहायक हो सकता था; क्योंकि उसकी एक-एक हड्डी सरलतासे गिनी जा सकती थी। मांसकी जगह तो मानो ईश्वरीय ज्ञान कूट-कूटकर भरा था। नेत्र क्या थे? मानो ध्यानरत रहते-रहते अपना अस्तित्व ही भूल चुके थे। सुरत कहीं दूर, इस संसारसे परे अन्तरिक्षको भी भेदकर न जाने कहाँ जा बसी थी। ऐसा लगता था कि वह संसारमें रहते हुए भी उससे परे ही कहीं विचरण करता। कहनेको तो वह भूपर था, किंतु यथार्थ तो यह था कि भू उसके आश्रित थी और वह भूपति था। उसके आते ही वातावरणमें वह महक बरस जाती जिसे सूँघनेके लिये, सम्भव है बड़े-बड़े ऋषि, महात्मा तड़पते ही चले गये हों। उसके पास बैठनेपर सब दुःख-दर्द भूलकर मानव अपने-से ऊपर, बहुत ऊपर पहुँचकर निर्मल रसका रसास्वादन कर पाता था, किंतु इसे देखे कौन? पहचाने कौन? जब सब अपनेमें ही व्यस्त थे।

और वह..............

वह तो कहता था—

'हँस-खेले नहिं पाइयाँ, जिन पाया तिन रोय।'

फिर कौन समझता।

× × × ×

एक दिन न जाने कहाँसे घूमता-फिरता फिर आ गया बाबा और उसीके द्वारपर आवाज लगी 'बिटिया!'

वह दौड़ी, प्रणाम किया।

'बैठो न बाबा!'

बाबा बैठ गये। उन्हें उसके घरमें भी अब कुछ सुगन्ध-सी लगने लगी थी और वह महक...जो उन्हें प्रिय थी।

'भूख लगी है माताजी!' बाबा बोल उठे।

माता दौड़ी; क्योंकि न जाने कैसे बाबाके प्रति उसका वात्सल्य जो उमड़ पड़ा था। कुछ नहीं साधारण-सा ही भोजन पाया उन्होंने, किंतु बड़ी प्रसन्नतासे और एक-एक वस्तुको बड़े उल्लाससे भोजन करनेके पश्चात् वे बोले—'क्या दर्द होता है बेटी?'

'कहाँ बाबा!' दुनियाके नेत्रोंमें वह धूल झोंक सकती थी; किंतु अपने 'बाबा' के नहीं। उसके नेत्र झुक गये। अपराधी थे बेचारे न। बाबा भी समझ गये। प्रसन्नतासे उनका उद्दीप्त मुख और भी आलोकित हो उठा।

'बाबाका कुछ काम करेगी बेटी?'

'हाँ, कहिये न बाबा!'

वह 'नाहीं' नहीं कर सकती; क्योंकि बाबा उसे न जाने क्यों बहुत अच्छे लगते थे और उसे ऐसा लगा कि मानो बोलनेके साथ-ही-साथ बाबाने उसे कामके लिये शक्ति प्रदान कर दी थी। फिर भी उसने कहा, 'किंतु मुझमें शक्ति कहाँ?'

'क्या कामके लिये शक्ति चाहिये बेटी? जरा सोचो। केवल लगन चाहिये।'

'अच्छा तो लगन, लगन कहाँसे पाऊँ, यह तो बताओ।'

'विचार करो बेटी! तो वह तुम्हारे समीप हृदयमें ही मिलेगी।'

'देख लिया बाबा! समझ लिया। अब जो कहिये, वह मुझसे दूर नहीं।'

'और प्रीति?'

'वह लजा गयी। उसे स्मरण आया, 'वह प्रीति नहीं करेगी,' उसने कहा था।

'कहाँ बाबा! मैं भला प्रीति क्या जानूँ।'

बाबा मुसकराये। 'अब होशियार हो चली है बिटिया मेरी।'

वे बड़बड़ाये।

'ऐसी प्रीति सराहिये, जामें ना पहिचान।
रही प्रीति की प्रीति वह, और नहीं कछु हानि॥'

'क्या चैन चला गया बेटी?'

वह तुनुककर बोली, 'हाँ' चला गया बाबा! और मिल भी गया बाबा!'

'सो कैसे?'

'अनोखी प्रीतिकी रीति थी,' वह कैसे समझती बेचारी!

जो पुरुष सुख-दुःखका सदुपयोग नहीं करता, वही अवनतिकी ओर जाता है। सुखका सदुपयोग न करनेसे सुख छीन लिया जाता है और दुःखका सदुपयोग न करनेसे दुःख बढ़ जाता है—यह प्राकृतिक नियम है।

साधनोपयोगी पत्र

(१)

सबमें एक ईश्वर या आत्माको देखनेपर ही दुःखनाश

प्रिय महोदय! सादर हरिस्मरण। पत्र मिला। आपने जो लिखा, सो ठीक है, पर वास्तवमें सारे दुःख तथा बन्धनका कारण है—शरीर और नाममें 'अहंता' तथा प्राणि-पदार्थोंमें 'ममता'। शरीर तथा नाम दोनों ही 'मैं' नहीं हैं, पर इनमें मिथ्या 'मैं' पन इतना गाढ़ा हो गया है कि उसको लेकर यह मेरा देश, यह मेरी जाति, यह मेरा मजहब, यह मेरा मत, यह मेरी पार्टी, यह मेरा घर, यह मेरा धन, यह मेरा अधिकार आदिके रूपमें इतने मिथ्या ममताके बन्धन हो गये हैं और उनमें इतना अधिक 'राग' हो गया है कि रात-दिन उन्हींकी चिन्तामें ग्रस्त रहना पड़ता है; इस मिथ्या ममत्वको लेकर हमारा 'स्व' स्वाभाविक ही संकुचित होते-होते केवल एक व्यक्तिमें, शरीर तथा नाममें आकर केन्द्रित हो गया है। यही कारण है कि आज हम जीवजगत्, विश्व, देश और जनताके हितको ही नहीं, अपने परिवारके अन्यान्य सदस्योंके हितको भी भूलकर केवल व्यक्तिगत—अपने 'शरीर तथा नाम' का ही हित-साधन करनेमें लगे हैं और यह निश्चित है कि जितना ही 'स्व' सीमित होगा, उतना ही 'स्वार्थ' निम्न स्तरका होगा। वह दूसरोंका हित न देखकर ही नहीं, उनका अहित करके भी अपना हितसाधन करना चाहेगा और यों जब सभी लोग या अधिकांश लोग दूसरोंका अहित करके अपना हित करनेमें लगेंगे, तब किसीका भी हित न होकर सभीका अहित होगा। कलह, संघर्ष, उपद्रव, क्रोध, वैर, हिंसा स्वाभाविक कार्य हो जायँगे। आज सर्वत्र यही हो रहा है। इसीसे आज देश-देशमें, धर्म-धर्ममें, प्रान्त-प्रान्तमें, जाति-जातिमें, पार्टी-पार्टीमें, पड़ोसी-पड़ोसीमें, घर-घरमें और व्यक्ति-व्यक्तिमें लड़ाई है तथा मानवता मरी जा रही है। यह पाप उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। पापका फल अशान्ति तथा दुःख तो होगा ही, निश्चित।

अतएव इससे यदि बचना है तो उसका एक ही उपाय है—'स्व' को अत्यन्त विस्तृत कर देना। एक ही आत्माको सबमें तथा सबको एक ही आत्मामें देखना—**'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।'** (गीता ६।२९)

ऐसा होनेपर सहज ही सबके हितमें अपना हित और सबके अहितमें अपना अहित दिखायी देगा। वर्ग, वर्ण, कार्य अलग-अलग रहेंगे। जिस प्रकार एक ही शरीरमें सिर, पैर, आँख, कान आदि अंगोंके विभिन्न नाम-रूप हैं तथा सबके कार्य अलग-अलग हैं, पर सभी एक ही शरीरके विभिन्न अंग हैं—सभी 'मैं हूँ' ऐसी हमारी धारणा है, इसलिये सभी अंग सहज ही सब अंगोंकी पुष्टि तथा सहायता करते हैं। सबके हितमें ही सब अपना हित समझते हैं। कोई किसीको दुःख पहुँचाना या किसीका अहित करना नहीं चाहता। वरं सभी सबको दुःखसे बचाते रहते हैं। इसी प्रकार जब यह निश्चय हो जायगा कि एक ही भगवान् या एक ही आत्मा सबमें है और सब उसीमें है तो स्वाभाविक ही सबके द्वारा सबका हित होगा। फिर द्वेष, क्रोध, कलह, वैर, हिंसाको कहीं स्थान ही नहीं रह जायगा। सब सबका स्वाभाविक ही सुख-हितसाधन करेंगे।

'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।'
'अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत प्रभु निज मुख सों घट-घट हौं बिहरौं॥
सबमें मैं ही रम रहा, सब ही मेरे अंग।
सब ही 'मैं' फिर, कौन-सा करूँ अंग मैं भंग?॥
किसी अंगपर लगेगी चोट बड़ी या अल्प।
निश्चय ही वह लगेगी मुझको, बिना विकल्प॥
तब फिर कैसे करूँ मैं किस परका अपकार?
कैसे किसको दुःख दूँ, कैसे करूँ प्रहार?॥
नाम-रूप हैं देहके कल्पित असत् विभिन्न।
सबमें अन्तर्निहित हैं ईश्वर एक अभिन्न॥'

इस परम सत्यको भूलकर ही आज हम सब परस्पर एक-दूसरेकी मानसिक-शारीरिक हिंसा करते हुए वास्तवमें अपनी ही हिंसा कर रहे हैं। स्वार्थ-साधनके भ्रममें अपने ही स्वार्थका नाश कर रहे हैं। भगवान् हम सबको सद्बुद्धि दें। शेष भगवत्कृपा।

(२)

सच्ची भक्तिके लक्षण

सम्मान्य महोदय! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। भक्ति सुलभ है। भगवान्का अनन्य आश्रय लेनेपर

या उनके अनन्य शरणागत होनेपर वे सब पापोंका नाश करके अपना प्रेम दे देते हैं, यह सत्य है। पर ऐसा होनेके लिये अनन्य निष्ठा तथा कभी न हटनेवाला नित्य अखण्ड अटल विश्वास होना चाहिये। भक्तका बाना (माला, कण्ठी, चन्दन, साधुवेष) धारण करना अच्छा है। बाहरी वैष्णवता भी लाभकारी होती है, यदि दम्भ न हो तो। पर जीवनमें भक्तिका प्राकट्य होनेपर तो भक्तका स्वरूप ही दूसरा हो जाता है। सारे सद्गुण उसमें आप ही आ जाते हैं और उन सद्गुणोंके आधारपर ही यह जाना जा सकता है कि यथार्थमें भक्तिकी प्राप्ति हुई या नहीं। गीताके १२वें अध्यायके १३वें श्लोकसे २०वें श्लोकतक भगवान्ने अपने प्रिय भक्तोंके भाव, विचार, आचरण और लक्षणोंका बड़ा ही सुन्दर तथा विशद वर्णन किया है। भक्तिकी प्राप्ति चाहनेवालोंको बहुत ध्यानसे इस प्रसंगका अध्ययन करना तथा इसमें बताये हुए लक्षणोंको अपनेमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये। श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम बड़ी नम्रताके साथ समस्त प्रजाजनको अपना अनुशासन सुनाते हुए कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥
जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदयँ दृढ़ गहहू॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥
कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥

आगे चलकर श्रीकाकभुशुण्डिजीने गरुडजीसे भक्तिकी महिमा बतलाते हुए भक्तिके बड़े सुन्दर लक्षण बतलाये हैं। उक्त प्रसंगको भी ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये और भक्तिके बाहरी बानेके साथ ही सच्चे मनसे उपर्युक्त लक्षणोंको आदर्श मानकर जीवनमें उतारते हुए भक्ति-साधनमें अग्रसर होना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(३)

मंगलमय विधान

प्रिय भाई! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें इस लोक अथवा भोग-जगत्के सम्बन्धमें तीन शब्दोंका प्रयोग किया है—'असुख', 'दुःखालय' और 'दुःखयोनि'। 'यहाँ वास्तविक सुख है ही नहीं, यह दुःखका आलय है और दुःखोंकी उत्पत्तिका क्षेत्र है।' ऐसे भोग-जगत्में हम सुख ढूँढ़ रहे हैं और जैसे तपी हुई बालूकी लहरोंपर सूर्यकी किरणें पड़नेसे प्यासे हरिणको जलका भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार हमें भी भोगोंमें सुख दिखायी देता है। पर जैसे हरिण वहाँ पहुँचनेपर विशेष सन्तापके सिवा और कुछ नहीं पाता, उसी प्रकार जगत्के अनुकूल भोगोंके प्राप्त होनेपर दूरसे दिखायी देनेवाले सुख नष्ट हो जाते हैं और कुछ ही समय बाद विशेष सन्तापकी अनुभूति होती है। भगवान्ने इसीलिये कहा—सुख चाहते हो तो '**मां भजस्व**—मुझे भजो।' सुखरूप एकमात्र भगवान् हैं; भगवान्से रहित जगत् सर्वत्र दुःखमय है और वास्तवमें साधकोंकी दृष्टिसे ये दुःख भी भगवान्के प्रसाद हैं। कर्म-जगत्की व्यवस्थाके अनुसार दुःख बुरे कर्मका फल है। अतएव दुःखमें उस बुरे कर्मका नाश होता है, दुःखमें भगवान्की स्मृति होती है, दुःखसे मनुष्यके मनमें वैराग्य होता है और दुःख भगवान्की ओर बढ़नेमें सहायता करता है। श्रीमद्भागवतमें कुन्तीदेवीने अपने सगे भतीजे सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णसे वरदान माँगा था कि आप हमलोगोंको बार-बार विपत्ति दिया करें। बार-बार विपत्तिसे स्मृतिरूपसे आप मिलते हैं और आपका मिलना मोक्षदायक होता है—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥
(१।८।२५)

अतएव आपपर जो विपत्ति आयी है, जागतिक दृष्टिसे अवश्य ही वह सर्वथा अवांछनीय है, पर भगवान्का मंगलमय विधान कभी अमंलकारी हो ही नहीं सकता। छोटे बच्चेके किसी अंगका ऑपरेशन होनेपर वह उसे अंगका कटना समझकर रोता है। ऑपरेशन करनेवाले सर्जनके मनमें उसके रोगनाशका उद्देश्य है और वह उसके हितके लिये ही ऑपरेशन करता है। घरवाले, जो समझदार

हैं, वे भी ऑपरेशनको दु:ख नहीं मानते, सुख मानते हैं; वे सोचते हैं कि रोगका नाश हो रहा है; किंतु यहाँके सर्जनसे भूल भी हो सकती है; उसके उद्देश्यमें भी प्रमाद हो सकता है; पर सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ हमारे परम सुहृद् भगवान् हमारे लिये जो मंगलविधान करते हैं, वह चाहे दु:ख हो, दारिद्र्य हो, रोग हो या मृत्यु हो, अवश्य ही हमारे आत्माके लिये वह कल्याणकारी होता है। इसमें हमें विश्वास रखना चाहिये और यही सत्य है।

आप भगवान्पर विश्वास करते हैं, इसीलिये मैं ऐसा लिख गया, नहीं तो, किसी विपत्तिमें पड़े हुए आदमीको उसके साथ सहानुभूतिपूर्ण रोने-कलपनेकी बात ही लिखी जाती है, हालाँकि वह वास्तवमें है धोखा ही। आप इस सत्यको पहचानिये और भगवान्के प्रत्येक मंगलविधानमें उनका कृपापूर्ण वरदहस्त देखकर प्रसन्न होते रहिये। आत्मामें न किसी वस्तुका ग्रहण है न त्याग, न संयोग है न वियोग, न मान है न अपमान, न नीरोगता है न रोग, न जन्म है न मृत्यु। इसमें मोहित होना और इसके सम्पर्कमें आकर दु:खी-सुखी होना वास्तवमें अज्ञान है। जगत् तो द्वन्द्वात्मक ही है। यह द्वन्द्व जगत्से कभी नहीं मिट सकता; क्योंकि द्वन्द्वोंको लेकर ही जगत् है। सारे द्वन्द्वोंमें समान भावसे भरे हुए एक भगवान् हैं। वे ही परम सत्य हैं। केवल उन्हींसे सम्बन्ध रखकर हर अवस्थामें प्रसन्न रहना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(४)

शान्तिके लिये कर्तव्य

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। जहाँतक बने, छोटे भाईके साथ सद्व्यवहार, प्रेमका बर्ताव कीजिये। उसके दोष न बताकर उसके गुणोंको ढूँढ़िये। (गुण भी अवश्य होंगे ही) उसकी तारीफ कीजिये। वह नाराज भी हो तो उसको बार-बार स्नेह दीजिये। अपनी भूल स्वीकार कीजिये। धैर्य रखिये। भगवान्से उसको तथा अपनेको सद्बुद्धि प्रदान करनेके लिये प्रार्थना कीजिये।

दफ्तरमें भगवान्के सामने सदा सच्चे बने रहिये। काम जैसे लगनसे करते हैं, करते रहिये। अन्तमें सत्यकी ही जय होगी। खुशामद तो नहीं, पर यथासाध्य अपने उच्चाधिकारीसे मेल बढ़ाइये तथा भगवान्से विश्वासपूर्वक प्रार्थना करते रहिये। प्रार्थनामें अमोघ शक्ति है। शेष भगवत्कृपा।

(५)

कार्यव्यस्तताके बीच सन्ध्या-वन्दन आदि कैसे करें?

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा—'सुबहसे काम आ जाता है, जिससे सुबहकी सन्ध्या, गीता-रामायणका पाठ नहीं कर पाता, परंतु जपमें नागा नहीं होता।' जपमें नागा नहीं होता यह तो अच्छी बात है, परंतु काम आ जानेके कारण सन्ध्या-वन्दनऔर गीता-रामायणका पाठ न करना ठीक नहीं है। सन्ध्या-वन्दन करनेमें नागा नहीं होना चाहिये। यदि कभी कामके कारण समय कम हो तो संक्षिप्त सन्ध्या ५-७ मिनटमें भी की जा सकती है (आचमन, प्राणायाम, भगवान् सूर्यको अर्घ्य तथा करमालासे गायत्री-मन्त्रके ग्यारह जप कर लेनेसे संक्षिप्त सन्ध्या पूरी हो सकती है), पर यह प्रतिदिन अवश्य कर लेना चाहिये। यदि प्रात:काल समय न मिले तो आगे-पीछे समयमें भी कर सकते हैं। कारण, शास्त्रके अनुसार कालका लोप हो सकता है, परंतु कर्मका लोप नहीं होना चाहिये। गीता-रामायणके पाठके लिये यदि प्रात:काल समय न मिलता हो तो दिनमें या रातमें किसी भी समय कुछ समय निकालकर नियम पूरा कर लेना चाहिये।

आपने लिखा कि मन सांसारिक काममें भटक जाता है; दिनभर प्रभुस्मरण होता रहे, इसके लिये क्या करना चाहिये? प्राय: अपने जीवनमें हमलोग संसारकी वस्तुओंको और संसारके कामोंको महत्त्व अधिक देते हैं, जबकि यह नाशवान् है और एक दिन समाप्त होनेवाले हैं। जबतक हमारी महत्त्वबुद्धि संसारकी ओर रहेगी तबतक सांसारिक कामोंमें मनका भटकना स्वाभाविक है। इसलिये सबसे पहले तो जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति अपने मनमें निर्धारित होना चाहिये तब स्वाभाविक रूपसे परमात्मप्रभुके प्रति हमारे अन्तर्मनमें महत्त्वबुद्धि हो जायगी, फिर हमारे सभी कार्यकलाप प्रभुकी प्रसन्नताके लिये होने लगेंगे। संसारका काम करते हुए भी प्रभु-स्मरण हमें निरन्तर रहेगा तथा अपने द्वारा किये गये सभी कार्य प्रभुकी पूजारूपमें परिणत हो जायँगे।

प्रभुको निरन्तर स्मरण रखनेका एक अमोघ उपाय यह भी है कि जब भी समय मिले, चलते-फिरते किसी भी समय प्रभुके नामका जप मानसिक रूपसे करते रहें। शेष भगवत्कृपा।

व्रतोत्सव-पर्व

सं० २०६६, शक १९३१, सूर्य उत्तरायण, वसन्त-ऋतु, वैशाख कृष्णपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा रात्रिमें ७ । २६ तक	शुक्र	चित्रा दिनमें ३ । ३० तक	१० अप्रैल	कच्छपावतार।
द्वितीया ,, ७ । ५१ तक	शनि	स्वाती सायं ४ । २९ तक	११ ,,	× × ×
तृतीया ,, ८ । ४६ तक	रवि	विशाखा ,, ५ । ५५ तक	१२ ,,	वृश्चिकराशि दिनमें ११ । ३३ बजेसे, भद्रा दिनमें ८ । १७ बजेसे रात्रिमें ८ । ४६ बजेतक, श्रीगणेशचतुर्थीव्रत, चन्द्रोदय रात्रिमें ९ । ८ बजे।
चतुर्थी ,, १० । ७ तक	सोम	अनुराधा रात्रिमें ७ । ५१ तक	१३ ,,	मेष-संक्रान्ति रात्रिमें २ । ९ बजे, अश्विनी नक्षत्रके सूर्य रात्रिमें २ । ९ बजेसे, मूल रात्रिमें ७ । ५१ बजेसे, खरमास समाप्त।
पंचमी ,, ११ । ५० तक	मंगल	ज्येष्ठा ,, १० । ६ तक	१४ ,,	धनुराशि रात्रिमें १० । ६ बजेसे, वैशाखी, सौर वैशाखमासारम्भ, मकर-संक्रान्तिजन्य पुण्यकाल दोपहरतक।
षष्ठी ,, १ । ५० तक	बुध	मूल ,, १२ । ३८ तक	१५ ,,	मूल रात्रिमें १२ । ३८ बजेतक, भद्रा रात्रिमें १ । ५० बजेसे।
सप्तमी ,, ३ । ५९ तक	गुरु	पू० षा० ,, ३ । १६ तक	१६ ,,	भद्रा दिनमें २ । ५४ बजेतक।
अष्टमी अहोरात्र	शुक्र	उ० षा० अहोरात्र	१७ ,,	मकरराशि दिनमें ९ । ५३ बजेसे, श्रीशीतलाष्टमी।
अष्टमी प्रात: ५ । ५५ तक	शनि	उ० षा० प्रात: ५ । ४९ तक	१८ ,,	× × ×
नवमी ,, ७ । ४० तक	रवि	श्रवण दिनमें ८ । ८ तक	१९ ,,	कुम्भराशि तथा पंचक रात्रिमें ९ । ७ बजेसे, भद्रा रात्रिमें ८ । २२ बजेसे।
दशमी दिनमें ९ । ६ तक	सोम	धनिष्ठा ,, १० । ७ तक	२० ,,	भद्रा दिनमें ९ । ६ बजेतक।
एकादशी ,, १० । २ तक	मंगल	शतभिषा ,, ११ । ४० तक	२१ ,,	राष्ट्रिय वैशाखमासारम्भ, वरूथिनी एकादशीव्रत (सबका), श्रीवल्लभाचार्य-जयन्ती।
द्वादशी ,, १० । ३० तक	बुध	पू० भा० ,, १२ । ४३ तक	२२ ,,	मीनराशि प्रात: ६ । २७ बजेसे, प्रदोषव्रत।
त्रयोदशी ,, १० । २६ तक	गुरु	उ० भा० ,, १ । १५ तक	२३ ,,	मूल दिनमें १ । १५ बजेसे, भद्रा दिनमें १० । २६ बजेसे रात्रिमें १० । ९ बजेतक, मासशिवरात्रिव्रत।
चतुर्दशी ,, ९ । ५२ तक	शुक्र	रेवती ,, १ । २० तक	२४ ,,	मेषराशि प्रारम्भ तथा पंचक समाप्त दिनमें १ । २० बजे, श्राद्ध-अमावस्या।
अमावस्या ,, ८ । ४९ तक	शनि	अश्विनी ,, १२ । ५५ तक	२५ ,,	मूल दिनमें १२ । ५५ बजेतक, स्नान-दानादिकी अमावस्या।

सं० २०६६, शक १९३१, सूर्य उत्तरायण, वसन्त-ऋतु, वैशाख शुक्लपक्ष

तिथि	वार	नक्षत्र	दिनांक	मूल, भद्रा, पंचक तथा व्रत-पर्वादि
प्रतिपदा दिनमें ७ । २२ तक	रवि	भरणी दिनमें १२ । ८ तक	२६ अप्रैल	वृषराशि सायं ५ । ५२ बजेसे, चन्द्रदर्शन।
द्वितीया प्रात: ५ । ३६ तक तृतीया रात्रिमें ३ । ३२ तक	सोम	कृत्तिका ,, ११ । २ तक	२७ ,,	भरणी नक्षत्रके सूर्य सायं ६ । २४ बजेसे, अक्षयतृतीया, श्रीपरशुराम-जयन्ती।
चतुर्थी ,, १ । १६ तक	मंगल	रोहिणी ,, ९ । ३९ तक	२८ ,,	मिथुनराशि रात्रिमें ८ । ५३ बजेसे, भद्रा दिनमें २ । २४ बजेसे रात्रिमें १ । १६ बजेतक, वैनायकी श्रीगणेशचतुर्थीव्रत।
पंचमी ,, १० । ५० तक	बुध	मृगशिरा ,, ८ । ६ तक	२९ ,,	आद्यजगद्गुरु श्रीशंकराचार्य-जयन्ती।
षष्ठी ,, ८ । २३ तक	गुरु	आर्द्रा प्रात: ६ । २८ तक पुनर्वसु रात्रिशेष ४ । ४८ तक	३० ,,	कर्कराशि रात्रिमें ११ । १३ बजेसे, श्रीरामानुजाचार्य-जयन्ती।
सप्तमी सायं ५ । ५७ तक	शुक्र	पुष्य रात्रिमें ३ । ११ तक	१ मई	मूल रात्रिमें ३ । ११ बजेसे, भद्रा सायं ५ । ५७ बजेसे रात्रिशेष ४ । ४९ बजेतक, श्रीगंगासप्तमी।
अष्टमी दिनमें ३ । ३८ तक	शनि	श्लेषा ,, १ । ४४ तक	२ ,,	सिंहराशि रात्रिमें १ । ४४ बजेसे।
नवमी ,, १ । ३२ तक	रवि	मघा ,, १२ । ३० तक	३ ,,	मूल रात्रिमें १२ । ३० बजेतक, श्रीसीतानवमी।
दशमी ,, ११ । ४१ तक	सोम	पू०फा० ,, ११ । ३६ तक	४ ,,	कन्याराशि रात्रिशेष ५ । २८ बजेसे, भद्रा रात्रिमें १० । ५५ बजेसे।
एकादशी ,, १० । ९ तक	मंगल	उ०फा० ,, ११ । २ तक	५ ,,	भद्रा दिनमें १० । ९ बजेतक, मोहिनी एकादशीव्रत (सबका)।
द्वादशी ,, ९ । ३ तक	बुध	हस्त ,, १० । ५३ तक	६ ,,	प्रदोषव्रत।
त्रयोदशी ,, ८ । २३ तक	गुरु	चित्रा ,, ११ । १३ तक	७ ,,	तुलाराशि दिनमें ११ । ३ बजेसे, श्रीनृसिंह चतुर्दशीव्रत।
चतुर्दशी ,, ८ । १४ तक	शुक्र	स्वाती ,, १२ । ५ तक	८ ,,	भद्रा प्रात: ८ । १४ बजेसे रात्रिमें ८ । २४ बजेतक, व्रत-पूर्णिमा।
पूर्णिमा ,, ८ । ३६ तक	शनि	विशाखा ,, १ । २६ तक	९ ,,	वृश्चिकराशि रात्रिमें ७ । ५ बजेसे, स्नान-दानादिकी पूर्णिमा, श्रीबुद्ध-जयन्ती, वैशाखस्नान समाप्त।

कृपानुभूति

(१)

कुली बनकर प्रभुने रक्षा की

मैं एक अवकाशप्राप्त प्रवक्ता हूँ। घटना मेरे छात्र-जीवनकी है, जिसने मुझे सदा-सदाके लिये श्रीठाकुरजीके चरणोंसे जोड़ दिया।

बात ९ जुलाई सन् १९६३ ई०की है। मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसीमें बी०एस-सी० प्रथम वर्षमें नाम लिखा चुका था। मेरी जेबमें कुल तेरह रुपये पचास पैसे बचे थे। कक्षाएँ १५ जुलाईसे प्रारम्भ होनी थीं। मनमें आया कि इतने पैसेमें घर तो जा ही सकता हूँ। मुगलसरायसे डुँमराँव जिला आरा, बिहारका किराया पैसिंजर ट्रेनसे नौ रुपये था। बी०एच०यू० लंकासे गोदौलिया पचास पैसेमें आ गया। वहाँसे दो रुपयेमें मुगलसराय आ गया। सायंके आठ बज रहे थे। जब टिकट लेने गया तब काउण्टरसे जानकारी मिली कि इस समय कोई ट्रेन नहीं है, डुँमराँवके लिये कल प्रातः तीन बजे प्लेटफार्म नं० पाँचसे ट्रेन मिलेगी। इधर-उधर टहलते रात्रिके ग्यारह बज गये। बहुत तेज भूख लगी थी। दिनभर कुछ खाया नहीं था। प्लेटफार्म नं० एकपर देखा कि फल, पूड़ी-मिठाई आदिके ठेले लगे हुए हैं। एक रुपयेके चार मोतीचूरके लड्डू खरीदे। खाया, जल पीया और एक बेंचपर चुपचाप लेट गया। दिनभरका थका था, नींद आ गयी। मैं गाँवसे पहली बार पढ़नेके लिये शहर आया था। मुझे यह नहीं ज्ञात था कि प्लेटफार्मपर आनेसे पहले प्लेटफार्म-टिकट लेना चाहिये। अचानक दो बजे मुझे किसीने झकझोरकर जगाया, मैंने देखा कि मेरे आस-पास चार-पाँच काले कोट पहने टी०टी० खड़े थे। एकने कहा—टिकट? मैंने कहा—टिकट नहीं है। कहाँसे आ रहे हो? मैंने कहा—बी०एच०यू० से नाम लिखाकर। कहाँ जाना है? डुँमराँव। दूसरेने कहा—मजिस्ट्रेट चेकिंग है। बीस रुपये निकालो, यहाँसे बाहर निकाल देते हैं। मैंने कहा—साहब! मेरे पास दस रुपये हैं। इसमेंसे नौ रुपये टिकटके लिये हैं। आपको कहाँसे दूँ? दूसरेने कहा 'झूठ बोल रहा है। सिपाही, इसे ले चलो।' मैंने कहा—'मैं झूठ नहीं बोलता, साहब! तीन बजे मेरी ट्रेन है। अभी टिकट लेना है। मैं गाँव कैसे जाऊँगा?' उसने कहा—'अब तुझे जेल जाना है।' जेलकी बातसे मेरी रूह काँप गयी। सोच रहा था कि गाँवके लोग क्या कहेंगे कि तिवारीका लड़का जेल चला गया। मुझे माताजीकी बतायी बात याद आयी—'विपत्तिके समय अष्टाक्षर-मन्त्रका जप करनेसे विपत्ति नष्ट हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आकर मदद करते हैं।' मुझे जैसे सहारा मिल गया। मैं अष्टाक्षर-मन्त्रका जप करने लगा। **'श्रीकृष्णः शरणं मम' 'श्रीकृष्णः शरणं मम।'**

एक टी०टी० मेरा मुँह देख रहा था। मेरी आँखोंसे लगातार आँसू गिर रहे थे। जब साथका सिपाही हथकड़ी लगानेके लिये आगे बढ़ा, तब टी०टी० ने उसे रोक दिया। मैं लगातार मन्त्रका जप किये जा रहा था। वे लोग मुझे वेटिंगरूमके पास ही एक बड़े हालमें ले आये। अब तो जेल जाना ही पड़ेगा, परंतु माताजीकी बातोंपर विश्वास था। इसी मन्त्रने मेरी रक्षा की थी जब सात वर्षकी आयुमें मैं कुएँमें गिर गया था, तब आज मेरी विपत्ति क्यों नहीं टलेगी।

सुबहके सात बज गये, मेरी जपकी प्रक्रिया लगातार जारी थी। आँखोंसे आँसू लगातार गिर रहे थे। मैंने कई लोगोंके हाथ जोड़े-पैर पकड़े कि मुझे यहाँसे छुड़ा लें। बनारस चलकर पैसे लौटा दूँगा, किंतु किसीके ऊपर मेरी प्रार्थनाका प्रभाव नहीं पड़ा। अचानक खिड़कीसे एक व्यक्तिने आवाज दी—'बबुआ! क्यों रो रहे हो?' जैसे मुझे सहारा मिल गया हो। मैंने अपनी सारी कहानी सुना दी। वह बाह्य आवरणसे कुली लग रहा था। वह मेरे पास आया। उसने कहा—आओ, साहबके पास चलते हैं। आशान्वित अपराधीके समान मैं उसके पीछे-पीछे चल दिया। वह व्यक्ति मजिस्ट्रेटके पास पहुँचकर बोला—'साहब! मैं रेलवे इम्प्लाई हूँ। यह मेरा भतीजा है। अज्ञानतावश प्लेटफार्मपर सो गया था। पकड़ा गया है। छोड़ दें! देखिये, यह किसी मन्त्रका जप कर रहा है।' उन्हें जैसे कुछ सुनायी नहीं पड़ा। उन्होंने कहा—बयालिस रुपये पचास पैसे जमा करो या यह जेल जाय। उस व्यक्तिने कुछ नहीं कहा। अपनी सभी जेबें तलाशने लगा। कुछ रुपये पैजामेके नारेसे निकाले। किसी तरह तैंतालिस

रुपये हुए। रुपये जमा किये और रसीद ली। उसने कहा—ये पैसे लो, अपर इण्डिया डेढ़ बजे आती है; घर चले जाना। मैं लगातार उसे देख रहा था। मन कह रहा था भगवान् ही इस रूपमें आये हैं। भावावेशमें मैंने उसका चरण-स्पर्श किया। वह अचानक पीछे मुड़ा और चला गया।

आज उस घटनाको पैंतालीस वर्ष बीत चुके हैं, परंतु भगवान्‌की वह अहैतुकी कृपा आज भी स्मृतिपटलपर वैसी ही बनी हुई है, कह नहीं सकता कि नरसीके लिये साँवरिया सेठ और तुलसीके लिये पहरेदार बननेवाले वे परम प्रभु मेरे लिये स्वयं कुली बन गये थे या मुझ आर्तभक्तकी पुकारपर उन्होंने उस कुलीके अन्तःकरणमें मेरे लिये अपनी कृपा भर दी थी। मैं आज भी उनके उस रूप और उनकी उस कृपाका कृतज्ञभावसे स्मरण करता रहता हूँ और अहर्निश अष्टाक्षर-मन्त्र '**श्रीकृष्णः शरणं मम**' का जप करता हूँ।—**गोकुलनाथ तिवारी**

(२)

भगवान्‌की दया

यह घटना सन् १९९६ ई०के जुलाई माहकी है, जब मेरा स्थानान्तरण मुजफ्फरनगरसे मेरठ हो गया था। वहाँपर मैंने साकेत कालोनीमें एक मकान किरायेपर लिया था। मकानमालिक बहुत सज्जन तथा पूजा-पाठ करनेवाले धार्मिक व्यक्ति हैं। उस मकानमें सभी सामान भलीभाँति लगाये जानेके उपरान्त छतके पंखोंकी बारी आयी। मैंने इलेक्ट्रीशियनको बुलाकर दोनों कमरोंमें पंखे लगवा लिये। इनमें बेडरूमका पंखा स्विच ऑन करनेके उपरान्त 'खट्' की आवाज करता था, शायद छतके कुण्डेमें पंखेके क्लिपके बीचमें लगनेवाली रबर कट गयी थी, यह ५६ इंचका बहुत पुराना पंखा था तथा उसकी मोटर भी बहुत अधिक भारी थी। वह पंखा हमारे डबलबेडके पैरोंके ठीक ऊपरकी तरफ लगा था। उस पंखेका रेगुलेटर खराब था, इसलिये पंखा पूरी स्पीडपर चलता था। जब भी उस पंखेको चलाया जाता तो उसकी खट्की आवाजसे पत्नी घबरा जाती और कहती कि मुझे बहुत डर लगता है, कहीं यह पंखा गिर न जाय। मैं उससे कहता कि घबरानेकी जरूरत नहीं है, किसी इलेक्ट्रीशियनको बुलाकर ठीक करवा देंगे। मेरा एक ही लड़का है। तब वह भी छोटा था। अतः हम तीनों डबलबेडपर पैरोंकी तरफ सिर करके सोते थे।

ऐसे ही कुछ दिन बीत गये, मैं किसी कामसे बाजार गया तो मुझे एक बिजलीके सामानकी दूकान दिखायी दी। मैंने उस दूकानसे पंखेके ऊपर छतके कुण्डेमें लगनेवाली रबर ले ली और शामको दफ्तरसे आकर स्वयं ही पत्नीकी सहायतासे डबलबेडपर मेज रखकर उसे लगाने लगा तो मेरा ध्यान पंखेके क्लिपमें लगे पाइपपर गया, जिसकी चूड़ियाँ खुलकर बिलकुल किनारेपर आ गयी थीं, शायद उसकी पिन भी टूट गयी थी, जो पाइपको क्लिपमेंसे निकलनेसे रोकता है। लेकिन मैं यह खतरा देखकर भी सचेत नहीं हुआ तथा पंखेका रबर लगाकर मेजसे नीचे उतर आया और निश्चिन्त हो गया। गर्मी बहुत ज्यादा हो गयी थी, अतः हमने उसी दिन दरवाजेपर कूलर लगा लिया था तथा उसी रात हमने सिरहाना भी बदल लिया था।

लगभग दस बजे हम तीनों आरामसे सो गये। रातमें किसी समय बिजली चली गयी तो पत्नी बैठकर सुन्दरकाण्डके दोहे गाने लगी। (वह नियमित रूपसे सुन्दरकाण्डका पाठ करती है), कुछ देर बाद बिजली आ गयी तो वह लेट गयी और उसकी आँख लग गयी। तभी रातमें एकदम धड़ामकी आवाज हुई। मैं घबड़ाकर उठा और तुरंत पत्नी और लड़केको जगाया कि देखो, क्या हुआ? जल्दीसे लाइट जलाओ। लाइट जलानेपर जो हमने देखा तो हमारे होश उड़ गये। वह पंखा हमारे बेडपर गिरा हुआ था, लेकिन हम तीनोंमेंसे किसीको खरोंचतक भी नहीं आयी थी, मेरी पत्नीकी तो आँखतक नहीं खुली थी, जबकि नीचेवाली मंजिलपर रहनेवाले मकान-मालिक पंखा गिरनेकी आवाजसे जाग गये थे। देखनेवाले कह रहे थे पता नहीं किस शक्तिने तुम्हें कैसे बचाया है! मेरे लिये आजतक यह चिन्तनीय विषय बना हुआ है कि देखो भगवान् न जाने कैसे-कैसे रक्षा करते रहते हैं, किंतु फिर भी हमारा ख्याल उनकी ओर नहीं जाता, जाता भी है तो थोड़ी देरको, फिर भी भगवान्‌की दया असीमरूपसे होती रहती है।—**विनोदकुमार गौतम**

पढ़ो, समझो और करो

(१)

नि:स्वार्थ कर्तव्यपालन

घटना सन् १९९३ ई०की है। दीवालीकी रात थी। हमारे यहाँ घरपर श्रीगणेश-लक्ष्मीपूजनके पश्चात् भगवान्‌का प्रसाद सर्वप्रथम निकटतम मन्दिरमें परोसाके रूपमें भेजनेकी परम्परा है, उसके बाद ही परिवारजन भोजन-प्रसाद पाते हैं। मैं परोसेकी थाली लेकर स्वयं गाड़ी चलाकर मन्दिर गया। वहाँ मैंने मन्दिरमें परोसा दिया और वापस आकर गाड़ीमें बैठा। गाड़ी सड़कके किनारे खड़ी की थी और वहाँसे मुझे बीच सड़कमें जाकर उलटा (यू टर्न) घूमना था। अत: मैंने उचित इंडिकेटर सिगनल भी दिया; परंतु दो मोटरसाइकिलसवार बहुत तीव्र गतिसे उसी साइडसे पीछेसे आये और मेरी गाड़ीके अगले टायरसे टकराये तथा ५-७ फुट दूर जाकर गिर पड़े। उन्हें ज्यादा चोट नहीं आयी; परंतु उनकी मोटरसाइकिलकी लाइट एवं काँच इत्यादि कुछ टूट गये। मैं घबरा-सा गया; क्योंकि कुछ तो कदाचित् मेरी भूल थी और उसपर मैं अकेला था और वे तीन-चार युवक थे। मैं गाड़ीमें ही बैठा रहा। चारों मुझसे झगड़ने और मारपीट करने आ गये और मुझे गाड़ीसे बाहर खींचने लगे। ऐसी स्थितिमें मैं बिलकुल अकेला पड़ गया। कुछ लोग भी एकत्रित हुए, पर कोई मेरी मदद न कर सका।

अचानक एक सरदारजी, जो लगभग मेरे पिताजीकी उम्रके थे, वहाँ आ गये और उन युवकोंको हटाते हुए मेरी गाड़ीके गेटपर खड़े हो गये। उन्हें देखकर वे युवक हट गये। सरदारजी चले गये और मुझसे गाड़ी जल्दी ले जाने को कह गये। मैं गाड़ी उलटी घुमा रहा था कि सामनेसे दूसरी गाड़ी आ गयी और मेरी गाड़ी घूम नहीं पायी, फलस्वरूप मेरी गाड़ी फिर रुक गयी। सरदारजीको गया देख वे युवक फिर आ गये। इस बार वे और बुरा-भला कहने लगे। मैं हताश-सा हो गया। एकाएक देखा कि वही सरदारजी फिर आ गये। उन्होंने मुझसे थोड़े क्रोधित स्वरमें कहा कि मुझे दूसरे रास्तेसे जल्दी चले जाना चाहिये था। सरदारजीने फिर उन युवकोंको पीछे हटा दिया। वे लोग अपनी मोटरसाइकिलके नुकसानकी बात कहकर पैसे माँगने लगे। मैं घरसे ऐसे ही चला आया था, मेरी जेबमें उस समय एक नया पैसा नहीं था। वे युवक एक हजार रुपये माँगने लगे। सरदारजीने तुरंत अपनी जेबसे चार सौ रुपये निकाले और युवकोंको देकर उन्हें वहाँसे जानेको कहा। मैं स्तब्ध-सा रह गया। मैंने सरदारजीका धन्यवाद किया और उनसे उनका पता पूछा ताकि मैं रुपये बादमें लौटा सकूँ। उन्होंने पहले मना कर दिया, पर मेरे आग्रह करनेपर पता बता दिया और फिर कहा कि जल्दी घर चले जाओ।

मैं ठीक-ठाक घर आ गया और त्यौहार मनाया। कुछ दिन पश्चात् मैं सरदारजीके दफ्तर गया। उन्होंने बताया कि युवकोंने मदिरापान किया हुआ था। यह भी बताया कि जब एक बार मुझे बचाकर वे अपनी गाड़ीमें जाकर बैठ गये तब उनकी पत्नी जो गाड़ीमें बैठी थीं उन्होंने सरदारजीसे कहा कि युवकोंने फिर मेरी गाड़ी घेर ली है और मुझे अकेला देख वे मार-पीट करेंगे। अपनी धर्मपत्नीकी प्रेरणासे ही सरदारजी फिरसे गाड़ीसे उतरकर पीछे वापस आये थे। जब मैंने उन्हें चार सौ रुपये वापस देने चाहे तो उन्होंने यह कहते हुए इनकार कर दिया कि मैं उनके पुत्र-समान हूँ। तब मैंने यह कहा कि यदि मैं पुत्रके समान हूँ तो क्या वे अपने पुत्रको ऋणी देखना चाहेंगे? तब आग्रह करनेपर उन्होंने वे रुपये ले लिये।

आज भी जब कभी इस घटनाका स्मरण होता है तो यह विश्वास और दृढ़ हो जाता है कि परमपिता परमात्मा कब किस रूपमें दर्शन देते हैं, यह मनुष्यको घटनाके बाद ही बोध हो पाता है, साथ ही उन सरदार-दम्पतीके प्रति भी कृतज्ञताका भाव जाग्रत् होता है, जिन्होंने नि:स्वार्थभावसे सिर्फ मानवीय कर्तव्यके नाते मेरी सहायता की। काश! लोग इसी प्रकार अपने मानवीय कर्तव्यका ध्यान रखें तो अनावश्यक हिंसा, खून-खराबा और मार-पीट बच सकती है।

—कृष्णकुमार गोयल

(२)

जब आस्था बनी चट्टान

भक्त और भगवान् सनातन प्रेमी हैं। भक्त भगवान्के बिना नहीं रह सकता है और भगवान् भक्तके बिना। भक्त और भगवान्के बीच एकमात्र प्रेमका सम्बन्ध है। निष्काम प्रेमके सिवाय अन्य किसी उपायसे ईश्वरको प्राप्त नहीं किया जा सकता है। कृपा और करुणाके कारण भगवान् प्रकट होते हैं। प्रेम सदा निष्काम होता है।

भगवान्को यदि श्रद्धालु सच्चे मनसे पुकारें तो वे आपकी पुकारपर दौड़े चले आते हैं। इसकी प्रत्यक्ष घटना यहाँ प्रस्तुत है—

मैं १ अप्रैल सन् २००७ ई०को पावागढ़ और डाकौरजी (गुजरात)-की यात्रापर गया। मेरे साथ एक ऐसे साधक थे, जिनकी उम्र ९२ वर्ष थी और दूसरेकी उम्र ७५ वर्ष। हम २ अप्रैलको प्रात: बड़ौदा स्टेशनपर उतरकर स्नान इत्यादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर एवं नाश्ता करके बड़ौदा बस स्टैण्डसे पावागढ़ हेतु रवाना हुए।

पावागढ़ पहुँचकर हमने एक धर्मशालामें सामान आदि रखा और भोजन करके विश्राम किया, फिर माताजीके दर्शनार्थ हम रवाना हुए।

पावागढ़की माताजीका गुजरातमें बहुत महत्त्व है और यह स्थान शक्तिपीठ माना जाता है। वहाँ जानेके लिये हम पहले बससे रवाना हुए। उसके बाद पाँचू गाँवसे उड़नखटोलेमें बैठकर आगे गये। उड़नखटोलेमें यात्राके पश्चात् पैदल यात्रा है। 'माँ जगदम्बा' बहुत ऊँचे स्थानपर बैठी हैं।

वहाँ हमने चढ़ाई प्रारम्भ की। तीन चौथाई चढ़नेके पश्चात् हमारे साथी साधक जो ९२ वर्षकी आयुके थे, उन्होंने विश्राम हेतु निवेदन किया और हम छायामें एक स्थानपर बैठ गये।

वहाँ बैठते ही वे एकदम निढाल होकर गिर पड़े, मुँह खोल दिया और आँखें चढ़ा लीं, उनका शरीर ठण्डा पड़ गया।

मैं स्वयं हृदयरोगी हूँ। यह दृश्य देखकर मेरे भी हाथ-पाँव फूल गये। मैं देवीका भक्त हूँ। तत्काल मैंने देवीको पुकार लगायी। देवी मुझपर यह कलंक क्यों लगा रही हैं कि मैं इन्हें यात्रापर लाया और ऐसा हादसा हुआ, इनके लड़के-लड़कियाँ मुझे क्या कहेंगे? मैं घबरा गया, देवीको पुकारा और माँकी ऐसी कृपा हुई कि मेरे ऐसा कहते ही वे बोले—'बाबूजी! मुझे पानी पिलाओ।'

मैंने देवीको प्रणामकर उन्हें पानी पिलाया और 'माताश्री' को लाख-लाख धन्यवाद देकर साधकसे स्वीकृति ले देवीके दर्शनार्थ एक चौथाई बची सीढ़ियाँ १० मिनटमें ही पार कर लीं। वहाँ पहुँचकर मैं देवीके सामने नतमस्तक हो गया और उनका आशीर्वाद ग्रहणकर तथा उन्हें धन्यवाद देकर वापस लौटा।

देवीने साक्षात् चमत्कार दिखाया, इधर पुकार पहुँची और उधर देवीने मेरी इच्छाको पूर्ण कर दिया। इस चमत्कारको देखकर मेरी आस्था चट्टानके समान दृढ़ हो गयी।—**उमाशंकर शर्मा**

(३)

भगवान्की अदालत

घटना लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्वकी है। मध्यप्रदेशके राजगढ़ जिलेके ग्राम काँकरवालमें राजस्थानसे भेड़वाले भेड़ लेकर आये हुए थे। यह गाँव दूधी नदीके तटपर बसा हुआ है। गाँवके उत्तर दिशाकी ओर नदीमें एक गहरा स्थान है, जहाँ वैशाख-ज्येष्ठमें भी पानी नहीं सूखता। वहाँ मेरे दो ममेरे भाई लक्ष्मीनारायण और अनोखीलाल भैंसोंको पानी पिलाने ले गये। उस समय लगभग पाँच सौ भेड़ोंका झुण्ड पानी पीने नदीमें आया था। इन दोनों भाइयोंने भेड़ चरानेवालेकी नजर बचाकर एक भेड़का बच्चा पकड़ लिया।

भेड़ोंका झुण्ड पानी पीकर आगे बढ़ चुका था। भेड़का बच्चा भी भेड़ोंके झुण्डमें मिलनेके लिये जब भाग रहा था, तब उस बच्चेको पकड़कर उसके पीछेके दोनों पैर उन दोनों भाइयोंने तोड़ दिये, ताकि वह भाग न सके। बच्चा वहीं नदीके किनारे पड़ा रहा। फिर दोनों भाइयोंने भैंसोंको घर बाँधकर शाम सात बजे पचास रुपयेमें एक मांसाहारी व्यक्तिके हाथ उस बच्चेको बेच दिया। बात यह है कि दोनों भाइयोंने एक-एक पैर तोड़ा था, जिसकी सजा सबसे बड़े न्यायाधीश श्रीभगवान्ने उन्हें दे दी। अनोखीलाल सन् २००४ ई०के अगस्त माहमें बैल लेकर कुएँसे घर आ रहा था, तब एक बैलने उसे ऐसी लात मारी कि उसका सीधा पैर टूट गया, बैल घर आ गये। अनोखी वहीं पड़ा रहा। गाँवके लोग गये और चारपाईपर लादकर उसे ग्राममें ले आये और जीपसे मध्यप्रदेशकी राजधानी भोपाल ले गये, वहाँ इलाज हुआ। पैरमें हड्डियोंके बीचमें स्टीलकी रॉड डाली गयी। अनोखीलालका कथन है कि परमात्माने मेरा हिसाब इसी जन्ममें बराबर कर

दिया। मेरे पैरकी रॉडको कोई भी देख सकता है। इसी प्रकार अप्रैल माह सन् २००५ ई०में दूसरी घटना लक्ष्मीनारायणके साथ हुई, उसका भी सीधा पैर मोटरसाइकिलसे टूट गया और वह बाल-बाल बचा। उसका भी अस्पतालमें इलाज हुआ और उसके भी पैरमें स्टीलकी रॉड डाली गयी। लक्ष्मीनारायणका भी कहना है कि हाँ; मैंने भेड़के बच्चेका पैर तोड़ा था, भगवान्ने मुझे इसी जन्ममें सजा दे दी। भगवान्की अदालतके फैसलेको हम दोनों स्वीकार करते हैं। उनकी अदालतमें देर भले ही हो, पर अन्धेर नहीं है।—रमेशचन्द्र वर्मा

(४)

अभी भी ईमानदारी जिन्दा है

बात १८ फरवरी सन् २००५ ई० की है। मेरी शादीको अभी १८ दिन ही हुए थे। हम घरके सभी सदस्य सालासर और खाटू श्यामजी गये। सालासर पहुँचकर वहाँ बालाजीके दर्शन किये, खरीददारी की और वहाँसे चल दिये। खाटूमें भी हमने दर्शन किये। हमें आगे जयपुर जाना था। वहाँ पहुँचकर हमने देखा कि हमारा एक बैग गायब है, जिसमें दस डिब्बे प्रसादके, सुन्दरकाण्ड जो कि मेरे ससुरजी बाँटनेके लिये नियमित रूपसे छपवाते हैं तथा और भी बहुत-सा सामान था। हम सभी एक-दूसरेकी तरफ देखने लगे कि किसकी गलतीसे बैग रह गया। जयपुरसे हमने सालासर धर्मशालामें भी फोन किया; लेकिन उन्होंने कहा कि यहाँ ऐसा कोई बैग नहीं है। अब कोई चारा नहीं था; सामान गया, सो गया। दो दिन जयपुर रुककर हम वापस जैतो (पंजाब) आ गये। लगभग तीन दिन बाद प्रिंटिंग प्रेससे फोन आया (जिससे सुन्दरकाण्ड छपवाते हैं) कि आपके लिये अबोहरसे कोई फोन आया था, आपका कोई बैग उनके पास है। फोन रखते ही मैंने बालाजीको धन्यवाद दिया। उन सज्जनसे जब हम बैग लेने पहुँचे तो उन्होंने बताया कि इधर आपकी कार सालासर धर्मशालासे चली और उधर हमारी कार आकर रुकी, हमने देखा कि एक बैग पड़ा हुआ है, तब हम अपने सामानके साथ बैग कमरेमें ले गये और खोलकर देखा तो उसमें सुन्दरकाण्डपर आपका फोन नं० और पता लिखा था, हम उसे अपने साथ ले आये। बैग पाकर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई। हमने बालाजी महाराजको बार-बार प्रणाम किया कि उन्होंने ऐसे लोगोंके हाथमें बैग थमा दिया, जो ईमानदार तथा भले आदमी थे।

आजके समयमें जब हर जगह बेईमानी, झूठका वातावरण है, वहाँ किसीके दिलमें ईमानदारी भी जिन्दा है और धन्यवाद उन सज्जनको जो बैग अपने साथ ले आये और उसे असली मालिकतक पहुँचानेके लिये इतनी मेहनत की। आज भी दुनियामें सच्चाई और अच्छाई दोनों जीवित हैं, ऐसे लोगोंसे समाजको बहुत कुछ सीखनेको मिलता है।—रीतू चाण्डक

(५)

खुशीके आँसू

घटना जुलाई २००५ ई० की है। ऋषिकेशमें गंगापार गीताभवनके पास मैं और मेरा छोटा भाई जो कि मेरठमें डॉक्टर है, घाटपर कपड़े, बैग रखकर स्नानकी तैयारी करने लगे। बेंचपर पासमें लेटा हुआ एक अन्य व्यक्ति उठकर एक अन्य जगह जाकर लेट गया। घटा छायी थी, धूप न थी। अत: वह खुलेमें ही लेट गया। जब हम स्नान करके कपड़े बदलनेको आये तो मेरी नजर गोल बने नोटोंके बंडलपर गयी। मैंने छोटे भाईसे पूछा कि आपके नोट तो नहीं गिर गये। उन्होंने अपने रुपये देखकर बताया कि हमारे तो नहीं हैं। मैंने भी अपने नोट देखे तो ठीक थे। छोटा भाई बोला कि चलते समय मन्दिरमें दे देगें, लेकिन मेरे मनमें आया कि मन्दिर तो बादकी बात है, जिसके रुपये हैं, उसतक पहुँच जायँ तो ज्यादा उचित होगा—मैंने हाथ जोड़कर गंगा माँसे प्रार्थना की—माँ! यह रुपये उसतक पहुँचा दें, तो तेरी कृपा होगी।

दिल्लीसे आये हुए एक सज्जन थोड़े फासलेपर वहाँ बैठे थे। उन्होंने बताया कि वह व्यक्ति जो दूर लेटा हुआ है, उससे मालूम करें। वह पहले यहींपर लेटा हुआ था। हमने जाकर पता किया कि भाई! तुम्हारे रुपये तो नहीं गिर गये हैं। उस मजदूर व्यक्तिने जैसे ही अपने तहमदकी अन्टी खोलकर देखी तो हाय करके उठा कि मेरे सौ-सौ रुपयेके सात नोट गिर गये हैं। वे नोट भी उतने ही थे। हमने वे नोट उसे देकर गंगा माँके पुन: हाथ जोड़े कि माँ! आपने हमारी पुकार सुन ली। वह मजदूर बोला कि बर्तन माँज-माँजकर यह रुपये इकट्ठा किये थे। तभी हमारी आँखोंसे खुशीके आँसू निकल आये बिना नहीं रहे। उसकी खुशी देखते ही बनती थी। ईश्वरको कोटि-कोटि धन्यवाद।—दाताराम सिंघल

मनन करने योग्य

संगतिका फल

एक बहेलिया था। उसने जंगलमें जाकर किसी वृक्षकी खोहमेंसे सुग्गे (तोते)-के दो बच्चे पकड़ लिये। गरमी तथा प्याससे व्याकुल होकर बहेलिया एक महात्माजीकी कुटियापर पहुँचा। महात्माजीने उसके पास सुग्गेके दो सुन्दर बच्चोंको देखा तो एक बच्चा माँग लिया। बहेलियेने एक बच्चा महात्माजीको दे दिया तथा बादमें दूसरे बच्चेको नगरमें जाकर कसाईटोलेके एक शराब-व्यापारीके हाथों बेच दिया।

इधर महात्माजी सुग्गेके उस बच्चेको भगवान्‌के नामका जप, उनके रूपके ध्यान आदिके बहुत सुन्दर-सुन्दर श्लोक आदि सिखाने लगे। कुछ ही दिनोंमें सुग्गा बहुत कुछ सीख गया।

पुराने समयमें राजा-महाराजा जब कभी राज्य-कार्योंको करते-करते थक जाते थे, तब वे साधु-महात्माओंके दर्शनके लिये उनके हरे-भरे प्राकृतिक रमणीय आश्रमोंमें प्रायः जाया करते थे तथा वहाँ सत्संगवार्ता सुनकर आत्मिक शान्ति तथा नवीन स्फूर्तिका अनुभव करते थे। फिर वे पुनः लौटकर उत्साहसहित राज-काजके कार्योंमें लग जाते थे। जिस राज्यमें महात्माजीका आश्रम था, वहाँके राजाके दो पुत्र थे। एक बार राजा अपने छोटे राजकुमारको साथ लेकर महात्माजीके दर्शनहेतु उनके आश्रमपर पधारे। उनकी राजसी पोशाक, मुकुट आदि चिह्नोंको देखकर महात्माजीके सुग्गेने पहचान लिया कि ये राजा हैं; तब सुग्गा कहने लगा—राजन्! आइये, विराजिये और राम-राम कहिये। इसके बाद सुग्गा बहुत सुन्दर-सुन्दर श्लोक राजाको सुनाने लगा—

मङ्गलं भगवान् विष्णुः मङ्गलं गरुडध्वजः।
मङ्गलं पुण्डरीकाक्ष मङ्गलाय तनो हरिः॥

× × ×

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

सुग्गेके अद्भुत गुणोंको देखकर छोटा राजकुमार उसपर मोहित हो गया। उसने चलते समय अपने पितासे आग्रह किया कि महात्माजीसे सुग्गा दिलवा दीजिये। पुत्रका आग्रह सुनकर राजाने यह सोचकर उसे चुप रहनेको कहा कि कहीं महात्माजी सुनकर नाराज न हो जायँ। परंतु राजकुमारकी बात महात्माजीने सुन ही ली, उन्होंने राजासे पूछा। राजाने संकोचसहित अपने पुत्रकी इच्छा महात्माजीको बता दी। साधु बड़े परमार्थी होते हैं। महात्माजीने सोचा—ये सुग्गा, जहाँ कहीं भी जायगा वहाँ अपने सद्‌गुणोंसे दूसरोंका उपकार ही करेगा। ऐसा विचार करके महात्माजीने सुग्गा सहर्ष राजकुमारको दे दिया।

छोटा राजकुमार प्रसन्नचित्त हो सुग्गेको घर ले आया। महलमें राजकुमारने सुग्गेके लिये रत्नजटित स्वर्णका बहुत सुन्दर पिंजड़ा बनवाया, जिसमें सुग्गेको रखा गया। एक दिन छोटा राजकुमार सुग्गेके पिंजड़ेको राजसभामें ले गया। सभामें वह सद्‌गुणी सुग्गा बोलने लगा—'व्यर्थका बकवाद मत करो, राम राम कहो। इसीसे सबका कल्याण होगा।' इतना कहकर वह सुग्गा बहुत सुन्दर-सुन्दर श्लोक सुनाने लगा—

भर्जनं भवबीजानामर्जनं सुखसम्पदाम्।
तर्जनं यमदूतानां रामरामेति गर्जनम्॥

× × ×

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने॥

अपने संस्कारित सद्‌गुणी सुग्गेके कारण छोटे राजकुमारकी बहुत प्रसिद्धि हो गयी। जहाँ देखो वहाँ सुग्गेके कारण राजकुमारकी बड़ाई होने लगी।

दूसरी ओर बड़े राजकुमारकी बड़ाई तो दूर, कोई उनका नामतक नहीं लेता था। तब बड़े राजकुमारके मनमें विचार आया कि हम भी एक बोलनेवाला सुग्गा मँगवाएँ तो हमारी भी खूब नाम-बड़ाई होगी। ऐसा विचारकर बड़े

राजकुमारने राजासे कहा कि पिताजी! हमको भी एक बोलनेवाला सुग्गा मँगवा दीजिये। राजाने उसकी बात मानकर अपने सेवकोंको बुलाया और उन्हें पर्याप्त धन देकर कहा कि कहींसे भी एक बोलनेवाला सुग्गा मुँहमाँगा धन देकर खरीद लाओ।

राजाके सेवक तत्काल बोलनेवाले सुग्गेकी खोजमें चल दिये। खोजते-खोजते वे लोग उसी दूसरे सुग्गेके पास पहुँचे, जिसे बहेलिया कसाईटोलेमें एक दूकानदारके हाथों बेच गया था। राजाके सेवकोंने दूकानदारसे पूछा—इस सुग्गेको बेचोगे। दूकानदार झट राजी हो गया। राजाके सेवकोंने उसे मुँहमाँगा धन देकर सुग्गा खरीद लिया और लौटकर राजाको सौंप दिया। राजाने प्रसन्न होकर सुग्गा बड़े राजकुमारको दे दिया। बड़े राजकुमारने छोटे राजकुमारसे भी अधिक सुन्दर और मूल्यवान् पिंजड़ा अपने सुग्गेके लिये बनवाया और सुग्गेको उसमें रख दिया।

दूसरे दिन छोटे राजकुमारके साथ-साथ बड़ा राजकुमार भी अपने सुन्दर पिंजड़ेको लेकर राजसभामें गया। वहाँ पहुँचते ही छोटे राजकुमारका सुग्गा बोलने लगा—'व्यर्थ बकवाद मत करो, राम-राम कहो। इसीसे सबका कल्याण होगा।' इसके बाद सुग्गा रामनामका जप, उनके रूपादिका ध्यान करते हुए बहुत सुन्दर-सुन्दर श्लोक राजाको सुनाकर चुप हो गया। तब राजाने बड़े राजकुमारके सुग्गेसे कहा—तुम भी कुछ बोलो। सुग्गा चुप, कुछ भी नहीं बोला। राजाने फिर कहा—अरे! कुछ तो बोलो। तब सुग्गा भद्दी-भद्दी गालियाँ देने लगा। वह सुग्गा कसाईटोलेमें शराबकी दूकानपर शराबियोंसे जो-जो गालियाँ सीखा था, वही बकने लगा। राजा अत्यन्त क्रोधित हो उठा। राजाने कहा—यह सुग्गा वधके ही योग्य है, तत्काल ले जाकर इसका वध कर डालो।

इसपर छोटे राजकुमारके सुग्गेने राजासे कहा—हे राजन्! पहले मेरी बात सुनिये। उसके बाद वध करवाइये। राजाने कहा—ठीक है, कहो क्या बात है? छोटे राजकुमारके सुग्गेने कहा—वास्तवमें यह मेरा भाई है। मैं इसको अच्छी तरह पहचानता हूँ और यह भी मुझे अच्छी तरह पहचानता है, किंतु—

गवासनानां स शृणोति वाक्य-
महं हि राजन् वचनं मुनीनाम्।
न चास्य दोषो न च मे गुणो वा
संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति॥

हे राजन्! मैंने मुनियोंके वचनोंको सुना है, जबकि इसने गोघाती आचरणभ्रष्ट शराबियोंके वचन ही सुने हैं, इसमें न इसका दोष है न मेरा गुण ही है; क्योंकि संगतिसे ही गुण और दोष उत्पन्न होते हैं। इसलिये इसका वध न किया जाय बल्कि इसका पिंजड़ा मेरे पिंजड़ेके समीप रख दिया जाय तो इसको पढ़ाकर मैं इसे अपने समान बना दूँगा। राजा सद्गुणी सुग्गेकी बातसे सहमत हो गये, जिससे अब दोनों पिंजड़े पास-पास रखे जाने लगे। इसका सुखद परिणाम यह हुआ कि बड़े राजकुमारका सुग्गा भी दुर्वचन भूलकर छोटे राजकुमारके सुग्गेके समान ज्ञानभरी बातें तथा सुभाषित वचन बोलने लगा।

देखिये—सन्तोंके संग होनेसे एक सुग्गेका कितना मान हो रहा था और दुष्टोंके संग होनेसे एक सुग्गेकी जान जा रही थी।

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥

श्रीरामजी विभीषणसे कहते हैं—हे तात! नरकमें रहना बल्कि अच्छा है, परंतु विधाता दुष्टका संग कभी न दे।

साधु असाधु सदन सुक सारीं। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारीं॥

साधुके घरके तोता-मैना रामनामका स्मरण करते हैं तथा असाधुके घरके तोता-मैना गिन-गिनकर गालियाँ देते हैं।

संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ॥

सन्तोंका संग मोक्ष (भवबन्धनसे छूटने)-का और कामीका संग भवबन्धनमें पड़नेका मार्ग है। संत, पण्डित, कवि तथा वेद-पुराण आदि सभी सद्ग्रन्थ यही कहते हैं।—श्रीरामधनीदासजी

'कल्याण' के पाठकोंसे नम्र निवेदन

फरवरी सन् २००९ ई० का मासिक अङ्क आपके समक्ष है। यह अङ्क उन सभी ग्राहकोंको भी भेजा गया है, जिनको जनवरी सन् २००९ ई० का विशेषाङ्क '**श्रीमद्देवीभागवताङ्क**' (**उत्तरार्ध**) वी०पी०पी० द्वारा भेजा गया था, लेकिन उसका भुगतान हमें अभीतक प्राप्त नहीं हो सका है। जिन ग्राहकोंकी वी०पी०पी० किसी कारणसे वापस हो गयी है, उनसे अनुरोध है कि '**श्रीमद्देवीभागवताङ्क**' की उपादेयताको ध्यानमें रखते हुए रु० १५० (सजिल्द-हेतु रु० १७०) मनीऑर्डर/ड्राफ्ट भेजकर पुनः मँगवानेकी कृपा करें।

जिन ग्राहकोंको सदस्यता-शुल्क भेजनेके उपरान्त भी उनके रुपये यहाँ न पहुँचने अथवा उनके रुपयोंका यहाँ समायोजन आदि न हो सकनेके कारण वी०पी०पी०से अङ्क प्राप्त हो गया है, उनसे अनुरोध है कि वे किसी अन्य व्यक्तिको वह अङ्क देकर ग्राहक बना दें और उनका नाम, पूरा पता तथा अपनी ग्राहक-संख्या आदिके विवरणसहित हमें भेज दें, जिससे उन्हें नियमित ग्राहक बनाकर भविष्यमें 'कल्याण' सीधे भेजा जा सके। यदि नया ग्राहक बनाना सम्भव न हो तो पूर्व जमा रकमकी वापसी या समायोजनहेतु पत्र भेजना चाहिये।

जिन ग्राहकोंका शुल्क प्राप्त हो गया था, उन्हें '**श्रीमद्देवीभागवताङ्क**' (**उत्तरार्ध**) रजिस्ट्रीद्वारा जनवरी माहमें भेज दिया गया है। यदि उन्हें अबतक प्राप्त नहीं हुआ हो तो अपने प्राप्ति-स्थान/पोस्टमैनसे जाँच करनेके उपरान्त रकमकी पावतीके साथ सूचना भेजनी चाहिये, जिससे उचित कार्यवाही की जा सके।

व्यवस्थापक—'कल्याण-कार्यालय', पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५, गोरखपुर (उ०प्र०)

विशेष—'श्रीमद्देवीभागवताङ्क' (उत्तरार्ध) सन् २००९ में प्रकाशित हो चुका है इससे पहले सन् २००८ में 'श्रीमद्देवीभागवताङ्क' (पूर्वार्ध) प्रकाशित हुआ था, इस प्रकार दोनों वर्षका विशेषाङ्क मिलकर सम्पूर्ण देवीभागवत (मूल संस्कृतका हिन्दी-अनुवाद)-के रूपमें तैयार हो गया है। यदि कोई पाठक सन् २००८ में प्रकाशित श्रीमद्देवीभागवताङ्क (पूर्वार्ध)-का सदस्य न बन सके हों तो (डाक एवं पैकिंगखर्चसहित मूल्य) रु० १४० (सजिल्द) का मनीआर्डर व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुरके नाम भेजकर मँगवा सकते हैं। इसके साथ मासिक अंक नहीं होगा।

गीता-दैनन्दिनी २००९—वर्षपर्यन्त अपने साथ रखने एवं मनन करनेमें अत्यन्त उपयोगी गीता-दैनन्दिनीके प्रचारमें आप सबने सराहनीय योगदान दिया है। गतवर्षकी भाँति इस वर्ष भी अधिक संख्यामें उपलब्ध करानेके उपरान्त भी दिसम्बर मासके अन्तमें गीता-दैनन्दिनीकी प्रायः सभी प्रतियाँ गोरखपुरमें समाप्त हो गयीं, पर पाठकोंको निराश न होना पड़े इसके लिये जनवरी मासमें गीता-दैनन्दिनीका पुनर्मुद्रण सीमित संख्यामें किया गया है। अतः जो पाठक अभीतक नहीं मँगवा सके हैं उन्हें शीघ्र मँगवा लेनी चाहिये। **गीता-दैनन्दिनी स्टॉकमें उपलब्ध रहनेतक ही मिल सकेगी।** बँगला, ओड़िआ, तेलुगु, गोरखपुरके स्टॉकमें नहीं है।

माघ-मेला प्रयाग—पूर्वकी भाँति इस वर्ष भी ११ जनवरीसे प्रारम्भ हुए माघ-मेलामें गीताप्रेसद्वारा पुस्तकोंका विशेष स्टॉल लगाया गया। स्नानार्थियोंको मासपर्यन्त यथासम्भव अपने प्रकाशनोंको उपलब्ध करानेकी चेष्टा की गयी। मेलाक्षेत्रमें पधारे पाठकोंने इसका भरपूर लाभ उठाया।

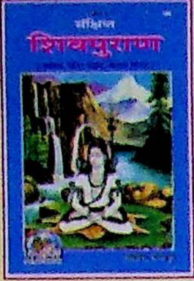
बँगला प्रकाशनोंका प्रचार—पश्चिम बँगालके सबडिविजन, ब्लॉक एवं विभिन्न जिलोंमें बँगला भाषाके गीताप्रेस-प्रकाशनोंको घरपर उपलब्ध करानेकी दृष्टिसे ७५ स्थानोंपर विशेष पुस्तक स्टॉल लगाये जा चुके हैं। ऐसे स्टॉल अन्य स्थानोंपर भी लगाये जा रहे हैं।

कोलकाता-बुक फेयर—पूर्वकी भाँति इस वर्ष भी २८ जनवरीसे ८ फरवरीतक कोलकाता-बुक फेयरमें गीताप्रेसकी विशेष पुस्तक-दूकान लगाकर बँगला एवं अन्य प्रकाशनोंको प्रदर्शित एवं उपलब्ध करानेकी चेष्टा की गयी।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

प्र० ति० २०-१-२००९
रजि० समाचारपत्र—रजि०नं० २३०८/५७
पंजीकृत-संख्या—NP/GR-13/09
LICENSED TO POST WITHOUT PRE-PAYMENT | LICENCE NO.-WPP/GR/-03/2009

श्रीमहाशिवरात्रिपर्वपर पाठ-पारायण एवं स्वाध्याय-हेतु प्रमुख प्रकाशन



संक्षिप्त शिवपुराण, सचित्र (मोटा टाइप) कोड 789, ग्रन्थाकार, सजिल्द—इस पुराणमें परात्पर ब्रह्म शिवके कल्याणकारी स्वरूपका तात्त्विक विवेचन, रहस्य, महिमा और उपासनाका विस्तृत वर्णन है। इसमें इन्हें पञ्चदेवोंमें प्रधान अनादि सिद्ध परमेश्वरके रूपमें स्वीकार किया गया है। शिव-महिमा, लीला-कथाओंके अतिरिक्त इसमें पूजा-पद्धति, अनेक ज्ञानप्रद आख्यान और शिक्षाप्रद कथाओंका सुन्दर संयोजन है। भगवान् शंकरके उपासकोंके लिये यह पुराण संग्रह एवं स्वाध्यायका विषय है। सचित्र, सजिल्द, मूल्य रु० १३०, डाक एवं पैकिंगखर्च रु० ३७ अतिरिक्त। **(कोड 1468)** विशिष्ट संस्करण मूल्य रु० १६५, डाक एवं पैकिंगखर्च रु० ४३ अतिरिक्त। **(कोड 1286)** मूल्य रु० १३०, डाक एवं पैकिंगखर्च रु० ३७, गुजरातीमें भी उपलब्ध।



शिवस्तोत्ररत्नाकर, सचित्र (कोड 1417) पुस्तकाकार—भगवान् शिवके चरित्र बड़े ही उदात्त तथा अनुकम्पापूर्ण हैं। ये थोड़ी ही उपासनासे प्रसन्न होकर अपने भक्तोंको सब कुछ प्रदान कर देते हैं। भगवान् शिवकी प्रसन्नताके लिये स्तोत्र, स्तुति एवं सहस्रनामके पाठकी विशेष उपयोगिता है। इस पुस्तकमें भक्तोंके लिये उपयोगी भगवान् शिवके विभिन्न स्तोत्रों, स्तुतियों, सहस्रनाम तथा आरती आदिका सुन्दर संकलन किया गया है। यह पुस्तक शिवभक्तोंके लिये संग्रह तथा स्वाध्यायका विषय है। मूल्य रु० २०, डाक एवं पैकिंगखर्च रु० २२ अतिरिक्त।



रुद्राष्टाध्यायी-सानुवाद (कोड 1627) पुस्तकाकार—भगवान् शिवकी उपासनामें रुद्राष्टाध्यायीका विशेष महत्त्व है। इसके द्वारा भक्तगण रुद्राभिषेक करके मनोभिलषित सिद्धि प्राप्त करते हैं। इस पुस्तकमें रुद्राष्टाध्यायीके मन्त्र, उनका हिन्दी-अनुवाद, संकल्प, गौरी-गणेश-पूजन, शिव-पूजन, ध्यान, उत्तर-पूजन, आरती, क्षमा-प्रार्थना आदि संगृहीत हैं। मूल्य रु० १८, डाक एवं पैकिंगखर्च रु०२२ अतिरिक्त।

नवीन प्रकाशन—छपकर तैयार

कोड	पुस्तक-नाम	मू०रु०	कोड	पुस्तक-नाम	मू०रु०	कोड	पुस्तक-नाम	मू०रु०
1835	सत्यनिष्ठ साहसी बालक-बालिकादेर कथा (बँगला)	१५	1731	श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् नामावलिसहितम् (मराठी)	३	1758	श्रीशिवपंचायतन (तेलुगु)	६
1838	जीवनोपयोगी प्रवचन (बँगला)	८	1729	श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम् नामावलिसहितम् पुस्तकाकार (मराठी)	५	1816	गुरु और माता-पिताके भक्त बालक (कन्नड़)	६
1839	कृतिवासी रामायण (बँगला)	१००	927	भक्तियोगका तत्त्व (तेलुगु)	१०	1840	एक संतकी वसीयत (गुजराती)	२

खुल गया है— यशवन्तपुर (बेंगलोर) रेलवे स्टेशन, प्लेटफार्म नं० ६ पर गीताप्रेसका पुस्तक-स्टॉल

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५